योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योग योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष : 29

दिसम्बर 1996

अंक : 9

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सवांई, आगरा

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

श्री गोविन्द सोनी

ब्र० राजेश चन्द्र शर्मा

दिसम्बर १९९६

इस अंक में पढ़िए

❀ महेशाय नमस्करोमि	१
❀ शक्ति प्राप्ति के दिव्य साधन (विशेष लेख) .... —योगिराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज	२
❀ चित्त एवम् चिति-शक्ति (सम्पादकीय)	८
❀ शरीरं तप उच्यते .... —पं० राजेन्द्र प्रसाद पाठक	९
❀ योगाभ्यास में नौली कर्म विधि तथा लाभ .... —श्री ब्र० राजेश	१२
❀ विनम्र निवेदनं शिष्यस्य श्री गुरुचरणान्नुद्दिश्य .... —श्री द्वारका प्रसाद शर्मा	१५
❀ शील —श्री विष्णुप्रसाद व्यास	१६
❀ तन्त्र में मन —स्वामी सत्यानन्द सरस्वती	१८
❀ पतञ्जलि एवं चरक के अनुसार योग का स्वरूप .... —डा० नरेन्द्र कुमार ब्रह्मचारी	२०
❀ महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास एवं गीता के उद्बोधक योग-योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान .... —श्री जयनारायण एम. ए., बी. एम. एस. शास्त्री	२७
❀ जीवन में योग का महत्त्व .... —श्री अवनीश कुमार भटनागर	३१
❀ गुरु भक्ति एवं योग .... —श्री पूर्णचन्द्र पन्त	३५
❀ पद —पं० रामप्रकाश अनुरागी	४०

वार्षिक मूल्य ६० रु० । द्विवार्षिक मूल्य ११० रु० ।
इस अङ्क का मूल्य ६ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, मवाँई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २६ अङ्क ६	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थानि बहुतर विपदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः॥	दिसम्बर १६६६

महेशाय नमस्करोमि

न यस्य सख्य पुरुषोऽवैति सख्युः सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन्।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टेस्तस्मै महेशाय नमस्करोमि॥

अर्थात्

यों तो जीव और ईश्वर एक-दूसरे के सखा हैं और इस शरीर में इकट्ठे ही निवास करते हैं, परन्तु जीव सर्वशक्तिमान् आपके सख्यभाव को नहीं जानता—ठीक वैसे ही जैसे रूप, रस, गन्ध आदि विषय अपने-आपको प्रकाशित करने वाली नेत्र, घ्राण आदि इन्द्रिय वृत्तियों को नहीं जानते, कारण कि आप जीव और जगत् के द्रष्टा हैं, दृश्य नहीं। हे महेश्वर ! मैं आपके श्रीचरणों में नमस्कार करता हूँ।

विशेष लेख—

शक्ति प्राप्ति के दिव्य साधन

● योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अपने पिछले कई लेखों में यह भलीभांति समझा दिया है कि शक्तिविहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का कथन है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः

अर्थात् बलहीन मनुष्य आत्मपद की प्राप्ति नहीं कर सकता। जो प्राणी शक्तिविहीन है वह लोक व परलोक के सुख को कथमपि प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षा काल में अनेक प्रकार के कीट-पतंगे जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जब से जन्म ग्रहण करता है तब से उसके मन में शक्ति प्राप्ति की धुन सवार रहती है। किन्तु 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के नियमानुसार साधन में प्रवृत्त मनुष्य अपनी मति के अनुसार होता है। इसलिए वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है। किन्तु उसका वह आह्लाद बहुत थोड़े समय के लिये होता है। जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई बालुका में डाल दिया जाये तो वह उस बालुका की गर्मी को पाकर तड़प जाया करती है और यदि उसको कोई छोटा-सा भी जलाशय मिल जाता है तो उसे पाकर उसको शान्ति मिलती है, किन्तु वह शान्ति उसके लिये अस्थाई है। जब तक वह मछली अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जायेगी तब तक उसका दुःख व तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्मा का सनातन अंश है और जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी-छोटी शक्तियों को पाकर के उसको शान्ति किस प्रकार से उपलब्ध हो सकती है। और जिसको शान्ति ही नहीं मिली उसको सुख कहाँ से आयेगा। इसलिये योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतम शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया, जिसको करते हुए वह कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं होगा। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन को ज्योतियों का भी महा-ज्योति कहा गया है और वेद मन्त्रों में उसको शिव संकल्प वाला होने की प्रार्थना की गई है। हमारे पूर्वजों का कथन है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

अर्थात् बन्ध और मुक्ति का कारण मन है। इसलिये सर्वप्रथम मन की बागडोर को रोककर शक्ति संचय करने के लिए उसको संयम में ले आना बहुत ही आवश्यक है। भगवान पतञ्जलिदेव ने 'योग दर्शन' में अष्टाङ्ग योग का वर्णन किया। वह सारे के सारे

यद्यपि मन को संयमित करने के अनेक साधन हैं किन्तु फिर भी सब प्रकार की साधना करते हुए अष्टाङ्ग योग के अन्दर धारणा, ध्यान और समाधि मनोनिग्रह करने के तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है। जब तक मन किसी धारणा के द्वारा अन्तर्मुख नहीं होता तब तक उसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महावृक्ष को छेदन करने के लिये पहले उस प्रकार के शस्त्र की जरूरत है जो तेज धार वाले हों और उसे काट सकें। इसलिये परम श्रेय लाभ करने के लिये और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संग्रहीत करने के लिए प्रथम मन को ही संगठित बना लेना बहुत आवश्यक है। उसकी पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है।

धारणा—धारणा का अभ्यासी मनुष्य बाह्य जगत से अन्तर्जगत में प्रवेश का अधिकारी बनता है। धारणा क्या है ? इसके विषय में भगवान पतञ्जलि देव अपने सूत्र में निर्देश इस प्रकार करते हैं

देशबन्ध चित्तस्य धारणा ।

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्वप्रथम सोपान है। यहीं से मनुष्य का सर्वाधिक मन एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिये इस विषय में शास्त्रों के अनेक मत हैं। किन्तु योग दर्शन पर भाष्य लिखते हुए भगवान व्यासदेव जी ने नाभिचक्र, हृदय-कमल, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त को वृत्ति मात्र से एकाग्र करने का संकेत किया है। वृत्तिमात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनको हम अपने मन की वृत्ति के कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। देखे व सुने हुए विषय को मन की भावना रूप में चिन्तन करना ही वृत्ति बन्ध है। इसका अभिप्राय इस प्रकार से समझ लेना चाहिये जैसे हमने हृदय-कमल में भगवान शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ की एवं कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगें। यही हृदय कमल की धारणा है। बार-बार कल्पना से भगवान शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्री विष्णु आदि किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय कमल में चिन्तन करना हृत्पुण्डरीक में होने वाली धारणा, इसी प्रकार से मूर्धा ज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान पतञ्जलि का आदेश है—

स तु दीर्घ कालनैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ भूमिः ।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिये उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं चाहिए कि हम एक दो दिन करके ही उसके परिणाम पर हावी हो जावें, काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करना चाहिए। अर्थात् इस समय में कोई विघ्न नहीं आवे। आज कर लिया कल फिर छूट गया, फिर दो चार रोज करके फिर कुछ समय न

लिये छूट गया। इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। इसके साथ-साथ एक बात और परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिससे हमारी श्रद्धा परिपूर्ण रूपेण हो, हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था न हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार "अकर्मात कर्मम श्रेयः" न करने से कुछ करना ही अच्छा है, इस बात को विचार में रखते हुए जो कुछ भी किया जाये, कुछ न कुछ भले के लिये होता ही है, किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिये बहुत ही आवश्यक है। इसीलिये धारणा को भी परखच करने के लिए हमें कम से कम तीन साल तक एक विषय पर ही परिपक्व मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्च स्तर की योग्यता प्रगट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है, भगवान पतञ्जलिदेव ने योगदर्शन में कहा है–

धारणा सु योग्यता मनसः ।

अर्थात् धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रातः व सायंकाल ३-३ घण्टे ध्येय विषय की धारणा करके उसको वृत्ति वृन्द से एकाग्रता द्वारा अनवरत अभ्यास से वह विषय उसके मन में प्रकट होने लगता है, मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है, यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में बँधकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तब इस प्रकार से लगातार किया हुआ वह धारणा अभ्यास स्वतः ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।

ध्यान—भगवान पतञ्जलिदेव ने ध्यान की परिभाषा बतलाते हुए अपने योग-दर्शन में यह सूत्र कहा है—

तत्र प्रत्येक तानता ध्यानम् ।

अर्थात् उस ध्येय विषय में चित्त का सदृश प्रवाह अर्थात् लगातार लगे रहना किसी और विषय का चिन्तन बिल्कुल नहीं आना ही ध्यान कहलाता है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान व्यासदेव लिखते हैं—

तस्मिन देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता
सदृश प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ।

अर्थात् ध्येया लम्बनीभूत विषय का अनवरत चिन्तन, जिसमें दूसरे चिन्तन का स्थान भी न हो एवम् वृत्ती तैलधारा के मानिन्द एक स्तर को चले उसीका नाम ध्यान कहलाता है, ध्यान उस विषय का नाम है जिसमें चित्त के अन्दर एकाग्रता परिणाम का पूर्ण उदय हो जाता है, अभी तक हमारा चित्त सर्वार्थता का अर्थात् उसको इन्द्रियाँ अपने-

अपने विषयों को दिखलाती थीं और उनमें ही बटा हुआ रहा करता था। कर्णेन्द्रियों ने किसी मधुर आवाज को ग्रहण किया तो चित्त झट उसकी ओर भाग गया, रसेन्द्रिय जिन्होंने किसी प्रकार के रस का आस्वाद किया तो चित्त उसमें ही भटक गया, नेत्रेन्द्रिय ने किसी रूप को देखा, मन दर्शन में लग गया, त्वगेन्द्रिय ने स्पर्श ज्ञान की ओर मन को खींचा उस ही की ओर लग गया। घ्राणेन्द्रिय ने किसी प्रकार गन्ध को ग्रहण किया तो मन उसकी ओर लग गया। इस प्रकार से हमारा मन भटकता रहता है और वह सर्वार्थक रहता है किन्तु जब योगी ने मन को इकट्ठा करके धारणा की ओर लगा करके वृत्ति वृन्द के द्वारा एक विषयक बनाने की चेष्टा की तो उसके अन्दर कुछ एकाग्रता के धर्म पैदा होने लगे और इस धारणा के अनवरत अभ्यास करते रहने पर ज्यों-ज्यों मन की अपनी ताकत बढ़ी त्यों ही उसके अन्दर एकाग्रता परिणाम आ गया और वही सर्वार्थक मन ध्यान के रूप में बदल गया। यहीं से ही योगी को अन्तर्मुखी वृत्ती का आरम्भ हो जाता है और मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ने लगता है, कठोपनिषद् में नचिकेता को उपदेश देते हुए भगवान यमराज ने यह स्पष्ट कहा है कि मनुष्य अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा ही परम श्रेय को लाभ कर सकता है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वय म्भूस्तस्मात्पराङः पश्यति नान्तरात्मन ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षदावृत्तिचक्षुर मृतत्वमिच्छन ।।

अर्थात् परमात्मा ने सारी इन्द्रियों को बाहर की ओर देखने वाला बनाया है इसलिये वह परान्लक्षन का काम करती है किन्तु संसार में कोई-कोई धीर पुरुष इस प्रकार के होते हैं जो अपने बाहर के इन्द्रिय व्यापार को बन्द करके उस प्रत्यगात्मा को देख पाते हैं। उन नित्य चेतन घन परम प्रभो को जानने के लिये बहुत आवश्यक है कि हम ध्यान योग के अभ्यासी बन जायें, हमें शास्त्र स्पष्ट आज्ञा देता है वह सच्चिदानन्दघन न चक्षुओं से देखा जा सकता है न दूसरी इन्द्रिय प्राप्त कर सकती है। केवल मात्र वह ज्ञानानुभूति से ही निरन्तर ध्यान करते हुए मुनि लोग उसके तत्व को जान सकते हैं। अतः ध्यान योग के द्वारा ही योगी अन्तर्मुखता को प्राप्त होकर अपने ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं और यहाँ आकर उनका मनोबल और भी अधिकाधिक विकसित हो जाता है। हमारे पूर्वाचार्यों का कथन है कि—

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यान योगेन नान्यो भेत्ता कदाचन् ।।

अर्थात् पाप का फैला हुआ पहाड़ भी हो तो वह ध्यान योग के द्वारा नष्ट हो जाता है। उसके नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। इसका कारण केवल मात्र यह है, ध्यान मन में पूर्ण सतोगुण उदय होने पर ही स्थिर रह पाता है। जब तक मन के अन्दर रज और तम की वृत्तियाँ उभरी रहती हैं तब तक मन अन्तर्मुखता की ओर बढ़ ही नहीं पाता। और अन्तर्मुखता प्राप्त हो जाने के बाद रज और तम की वृत्तियाँ दिन-दिन क्षीणता को प्राप्त होने लगती हैं और उत्तरोत्तर ज्ञान और तेज का विकास होने लगता है। इसलिए

ऐसा मन विवेकख्याति की ओर बढ़ता चला जाता है और उसके पाप इस प्रकार से नष्ट हो जाया करते हैं जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार हट जाता है। अस्तु ! क्योंकि मन अन्तर्मुखी होता है वह बाह्य जगत से नाता तोड़कर अन्तरात्मा में होने वाले विविध प्रकार के सत्व प्रधान तेजोमयी दृश्यों को देखता है और ज्यों-ज्यों अन्तर्जगत के दृश्य उसके सामने आते हैं त्यों-त्यों उसका बाह्य जगत से नाता एक प्रकार से टूट-सा जाता है और पूर्ण वैराग्य का उदय अपने आप होने लगता है यदि ऐसे समय में तत्ववेत्ता गुरुदेव नियन्त्रक हो अपने शिष्य को बाह्य जगत से हठात् रोक करके अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा विवेकख्याति की ओर खींच ले जायें। किन्तु यहां पर उसी नियम को याद रखना चाहिये जो धारणा के वर्णन में पहले बतलाया जा चुका है। यद्यपि धारणा से बढ़ी हुई योग्यता के अनुसार मन ध्यान परायण हो गया किन्तु फिर भी यदि वह अपने इस अमूल्य निधि को सम्भालकर न रख सका तो सम्भव है, बाहर के वासनामय दृश्यों की ओर मन को लगा देने पर खो बैठे, यदि अपने इस धन को साधक लापरवाही से खो बैठता है तो उसका अभ्युत्थान बहुत ही कठिन हो जाता है। क्योंकि हमारे शास्त्र का कथन है। उस प्रत्यगात्मा को आँखों से नहीं देखा जा सकता। हृदय में मनन करने से मनन करने वाली बुद्धि के ही द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जो पा लेता है वह अन्दर हो जाया करता है। जो इसको पाने की इच्छा करता है वह तीव्रतम तपश्चर्या करे। पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे, इस लोक में होने वाले और परलोक में होने वाले सभी प्रकार के भोगों का त्याग करे तभी आगे बढ़ सकता है। जो लोग किसी विशेष अन्य प्रारब्ध के बल से गुरुदेव की अनुकम्पा को पाकर के इस ध्यानविधि को पा लेता है वह अपनी इस कमाई को कायम करने के लिये पूर्णतम ब्रह्मचर्य का आचरण करे, किसी प्रकार का अहङ्कार न करे, क्रोध और राग-द्वेष आदि को त्याग दे, तभी वह ध्यान की सम्पत्ति मन में कायम रहेगी, और उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती रहेगी, ज्यों-ज्यों योगी ध्यान योग का अभ्यास करेगा त्यों-त्यों उसके स्वभाव से ही संकल्प सत्य होने लगेगा। इस प्रकार से वह अपने संकल्पों में सत्य को अनुभव करेगा ऐसे ध्यान योगी के विषय में योगाचार्यों ने कहा है—

'यम् यम् चिन्तयन्ते काम' तम् तम् प्राप्नोति निश्चितम।

अर्थात् जिन-जिन कामनाओं की वह चिन्ता करता है वह उसको कुदरती ही प्राप्त होने लगती है— ध्यान योग को भी भगवान पतञ्जलि देव ने सम्प्रज्ञात समाधि कहा है। सम्प्रज्ञात शब्द का अर्थ है जिसमें कुछ भी अनुभव होते रहें, सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी अतल-वितल, रसातल, पाताल और भौरम्भूर्भ्वस्व महः जनः, तपः, सत्यम आदि ऊपर के लोक इनका पूर्णरूपेण साक्षात्कार कर लेता है, ज्यों-ज्यों ध्यान की स्थिति अष्टांग योग के अभ्यास से साधक को निर्मल होती चली जाती है, त्यों-त्यों उसका विवेक ज्ञान निर्मल होता रहता है। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलि देव ने अपने मुखारविन्दु से यही भाव स्पष्ट रूप से कहे भी हैं।

योगाङ्गानुष्ठानाद शुद्धिक्षये ज्ञान दीप्तिरा विवेक ख्यातेः ।।

अर्थात् योगाङ्गों का अनुष्ठान करने से जब तक पूर्ण विवेक ज्ञान प्राप्त नहीं होता

तब तक उत्तरोत्तर ज्ञानदीप्ति होती रहती है। ज्योंही योगी का सत्व इतना निर्मल हो जाता है कि वह रज व तम को बिल्कुल दबा सा देता है तो उसको स्वतः ही सत्य संकल्पता आ जाती है। वह जो-जो संकल्प करता है वह सभी अनायास ही सफल होने लगता है। यहाँ पहुँच करके ही योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। योग-दर्शन में बतलाया है—**ऋतम्भरा तत्र-प्रज्ञा।**

सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के समाहित होने पर स्वतः ही ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रगट हो जाती है और वह प्रज्ञा सत्य को ही धारण करती है। यहाँ पर मिथ्या का लवलेश भी नहीं रहता। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रुतानुमान संस्कारों से और ही प्रकार की होती है क्योंकि वह विशेषार्थ को धारण करती है इस प्रज्ञा के पैदा हो जाने पर योगी सत्य संकल्प हो जाता है अर्थात् अभ्यास करने पर और श्री गुरुदेव की अनुकम्पा को प्राप्त करके ज्यों-ज्यों योगी का मन ध्यान योग के अभ्यास में अविच्छिन्न गति से बराबर चलने लगता है, त्यों-त्यों ही उसके मन को समाधि के धर्म प्रगट होने लगते हैं।

महान् यश को कौन प्राप्त होते हैं ?

अनूच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात्।
गुणवत्तरमात्मानं स्वेन मानेन दर्पिताः॥
अब्रुवन्कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद्यशः॥

'अभिमानवश अपने को महान् गुणी मानने वालों को यदि कोई उपदेश देता है तो भी वे अपने मन में गर्वकर महात्मा पुरुषों से भी अपने को विशेष गुणी मानते हैं, वे अपने को भले ही इस प्रकार माना करें परन्तु जो किसी की निन्दा तथा आत्मश्लाघा नहीं करता और विद्या तथा गुणों से सम्पन्न होता है, वह पुरुष स्वयं महान् यश को प्राप्त करता है।' (महा॰ शान्ति॰ २८७/२७-२८)

सम्पादकीय :—

—: चित्त एवम् चिति-शक्ति :—

दार्शनिक ग्रन्थों में जड़-चेतन, द्रष्टा-दृश्य, पुरुष-प्रकृति, क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ आदि नामों से जिन दो तत्वों का विवेचन हुआ है योगशास्त्र में चित्त एवम् चिति-शक्ति के नाम से इनका निरूपण किया गया है। वेदान्त के ग्रन्थों में मन बुद्धि, चित्त, अहङ्कार को मिलाकर अन्तःकरण चतुष्टय को ज्ञान प्राप्ति का साधन माना है। योगशास्त्र में मन, बुद्धि एवम् अहङ्कार का सम्मिलित पारिभाषिक नाम चित्त है। योग के ग्रन्थों में तथा पुराणों में मन, बुद्धि और अहङ्कार को चित्त के एकार्थक के रूप में भी बहुधा प्रयोग किया गया है। मूल प्रकृति से जब प्रथम परिणाम (विकार) प्रारम्भ होता है तब व्यष्टि-गत सृष्टि में चित्त के रूप में मूल प्रकृति अपने को व्यक्त करती है। मौलिक रूप में चित्त सत्व प्रधान होता है इसलिए इसका नाम चित्त सत्व है। चित्त से ही अहङ्कार तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं चिति-संज्ञाने धातु से संज्ञान अर्थ में चित्त शब्द बनता है। इसका मुख्य कार्य या वृत्ति चिन्तन करना है। जब हम चित्त के अंशभूत मन-बुद्धि एवम् अहङ्कार का विश्लेषण करते हैं तो इनका कार्य भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। मन का कार्य निश्चय या निर्णय देना होता है तथा अहङ्कार का कार्य अहंवृत्ति को धारण करना है। चित्त के द्वारा बाह्य एवम् अभ्यंतर विषय के संसर्ग से जो ज्ञान व अनुभव प्राप्त होता है उन सबका चित्तभूमि में संस्कार पड़ जाता है। यह संस्कार फोटो के नेगेटिव की भाँति चित्त में चित्रित होते रहते हैं। इन संस्कारों को स्मृति के रूप में बनाये रखना भी चित्त का ही कार्य है। यहां एक बात स्मरणीय होती है कि चित्त पर उन्हीं क्रियाओं का संस्कार बनता है जिन क्रियाओं या चिन्तन से हमारा राग और द्वेष जुड़ा रहता है। चित्त का उद्देश्य या प्रधान दो कार्य हैं, एक तो अपने स्वामी (पुरुष) को सुख-दुःखादि भोग प्रदान करना तथा अपवर्ग का सम्पादन करना। इसको हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते है कि चित्त के रूप में प्रकृति ही जीव को बाँधती है और स्वयं ही अपने को मुक्त भी करती है। सांख्यकारिका में इस बात की पुष्टि "संसरित बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः" ऐसा कहकर की है।

चित्त स्वयं प्रकाश न होकर जड़ है। किन्तु आत्मा की सन्निधि से उसे चेतनता मिलती है। जिस प्रकार से लोहे के टुकड़े में अग्नि के सान्निध्य से प्रकाश एवम् दाहकत्व शक्ति आ जाती है। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने समस्त प्राणियों में अपने आत्मरूप सत्ता को व्यक्त करते हुए अपने मुखारविन्द से 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनम् च" कहकर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि मानव में स्मृति-ज्ञान एवं अपोहन की शक्ति मुझ से ही है।

(शेष पृष्ठ २५ पर)

शारीरं तप उच्यते

(शरीर-सम्बन्धी तप कहा गया है)

पं० राजेन्द्र प्रसाद पाठक

स्वच्छ जीव को अपने शरीर मात्र से स्वयं अनुभूति स्वरूप ग्लानि हो जाय कि ये सब पुतले ऐसे ही अशुद्ध हैं जैसे मिट्टी के ढेले जिसे जल से धोया जाय और जितना भी धोया जाय (इसे) परन्तु जल निर्मलता अभाव के साथ-साथ अन्त में मिट्टी ही अवशेषतः हो। इतना ही नहीं बल्कि अन्ततः समाप्त भी हो जाय पर मिट्टी के सिवाय कोई बढ़िया चीज मिलने की सम्भावना ही न हो। यहाँ पर समझने की बात तो यह है कि शरीर को कितना (जन्म) ही क्यों न शुद्ध करते रहें पर वह कभी शुद्ध होवे ही न क्योंकि इसका एकमात्र कारण इसके मूल में में ही अशुद्धि का होना है। हमारे योगदर्शन २/५ का व्यास-भाष्य संकेत करता है—

स्थानाद् बीजा दुपष्टम्भान्निः
स्पन्दान्निधनादपि।
कायमाधेय शौचत्वात्,
पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

अर्थात् विद्वान् लोग शरीर के स्थान यानी माता के उदर में स्थित, बीज अर्थात् माता-पिता के रजोवीर्य से उद्भूत, उपष्टम्भ यानी खाये-पीये गये आहार के रस से परिपुष्ट, निःस्पन्द अर्थात् मल, मूत्र, थूक, लार, स्वेद, आदि स्नान से युक्त, निधन अर्थात् मरण-धर्मा और आधेय शौच जल-मिट्टी आदि से प्रक्षालित करने योग्य होने के कारण ही इसे मूलतः अपवित्र मानते हैं।

इसी कारण से जल, मृत्तिका, आदि से शरीर को पवित्र बनाने का नाम 'शौच' है, रही बात यह कि यदि इस प्रकार का रहस्यमय सम्बन्ध निहित है तो हम शरीर की शुद्धि पर ध्यान ही क्यों देते हैं? इसकी पुष्टि में योगदर्शन संकेत करता है कि—"शारीरिक शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।" यथा—

शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः।
(योगदर्शन २/४०)

यहाँ पर 'परैरसंसर्गः' अर्थात् शरीर मात्र से ग्लानि का होना या दूसरों के साथ संसर्ग का न होने से सम्बन्ध रखता है। पर मूलतः 'शौच' से अपने शरीर में वृणा होगी कि हम इस शरीर को रात-दिन इतना साफ करते हैं फिर भी इससे मल, मूत्र, पसीना, नाक का कफ, आँख और कान की मैल, लार, थूक आदि निकलते ही रहते हैं। यह शरीर हड्डी, मांस, मज्जा आदि घृणित एवं अपवित्र चीजों का बना हुआ है। इस हड्डी, मांस के थैले में तोला भर भी कोई शुद्ध, पवित्र, निर्मल और सुगन्धयुक्त वस्तु नहीं है। यह केवल गन्दगी का पात्र है, इसमें

कल्पनातीत मलीनता ही मलीनता भरी पड़ी है। या यूं कहिये मात्र मल-मूत्र पैदा करने की मशीन है। इस प्रकार की शरीर की अशुद्धि मलीनता आदि का ज्ञान होने पर ही जीव (मनुष्य) शरीर से ऊँचा उठ सकता है। शरीर से ऊँचा उठने पर ही उसे वर्ण आश्रम अवस्था आदि के बड़प्पन में न जाते हुए प्राज्ञ अर्थात जीवन्मुक्त आध्यात्मिक पथ की ओर विवेकतः अग्रसर हो उठने की शक्ति आ सकती है :

अतः भगवान श्रीकृष्ण गीता में उपदेशित करते हैं कि—देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुष का पूजन करना, शुद्धि रखना, सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन करना और हिंसा न करना—यह शरीर सम्बन्धी तप कहा गया है। यथा—

देवद्विजगुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।

(गीता १७/१४)

ब्रह्मचर्य के पालन सम्बन्धी बात में भी भगवान ने गीता के छठे अध्याय के चौदहवें श्लोक में विवेचन किया कि—'ब्रह्मचारि व्रते स्थितः' अर्थात ब्रह्मचारी (वानप्रस्थ और सन्यासी) का तात्पर्य केवल वीर्य रक्षा से ही नहीं है बल्कि ब्रह्मचारी के व्रत से है यहां पर गूढ़ बात यह है कि जिस प्रकार ब्रह्मचारी का जीवन गुरु के आज्ञा के अनुसार संयत तथा नियत होता है, ठीक उसी प्रकार ध्यान में बैठने वाले योगी को भी अपना जीवन संयत और नियत रखना चाहिए तथा जिस प्रकार ब्रह्मचारी शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध इन पांचों विषयों तथा अपने मान, बड़ाई और शरीर के आराम से दूर रहता है ठीक उसी प्रकार ध्यान योगी को भी उक्त आठ विषयों में अपनी भोग-बुद्धि या रस-बुद्धि अथवा आसक्ति-बुद्धि से सेवन नहीं करना चाहिये अन्यथा कर्त्तव्य-बुद्धि पर कठोर आघात पहुँचता है और ब्रह्मचारी व्रत में स्थित रहना अति कठिन तथा दुरूह होने लगता है।

गृहस्थाश्रमी के लिये भी ब्रह्मचर्य व्रत-विधान का विवेचन करते हुए मनीषियों ने कहा है कि बालक जब माँ के गर्भ में आये, उस समय से लेकर बालक की माँ-दुग्धपान पर्यन्त तक पिता स्त्री-संसर्ग वर्जित रखे ताकि आने वाली सन्तान सुयोग्य एवं प्रखर बुद्धि वाली होवे एवं परमात्म चिन्तन में मन को एकाग्र करने वाली बने, क्योंकि मूलतः शुद्धि पर वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति एवं संकल्प-विकल्प, आत्म-चिन्तन का विशेष महत्व है।

कथित, देवी-देवताओं का पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा—ये ही पांच प्रकार के शारीरिक तप जो कहे गये हैं उनमें तीर्थ, व्रत, संयम आदि भी इसी शारीरिक तप के अन्तर्गत ही मानते हैं किन्तु यदि शरीर को घोर कष्ट देकर जो तप किये जाते हैं उन्हें उत्कृष्ट तप नहीं कह सकते। तप में कष्ट की मुख्यता रखने वाले को योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने तो कह ही दिया कि—"जो शरीर में स्थित पांच भूतों को अर्थात पाञ्चभौतिक शरीर को तथा अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू (अर्जुन) आसुर निश्चय वाले (आसुरी सम्पदा वाले) समझ।"

कर्षयन्त शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्धया-
सुरनिश्चयान् ।।

(गीता १७/६)

अतः जीवात्मा के लिये वही तप श्रेष्ठ है जिसमें उच्छृङ्खल वृत्तियों को रोककर, शास्त्र, कुल-परम्परा और लोक-परम्परा की मर्यादा के अनुसार संयमपूर्वक—देश, काल, परिस्थिति, घटना आदि के अनुकूल बनाते हुए साधन-सिद्धि करना जिससे शरीर, मन, तथा इन्द्रिय आदि का संयम होता रहे। अष्टाङ्ग-योग में पाँच-यम तथा पाँच ही नियम बताये गये हैं। योगदर्शन बताता है कि—"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (योगदर्शन २/३०) तथा 'शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः'। परन्तु इन दोनों में 'यम' की ही ज्यादा महिमा है क्योंकि 'नियम' में व्रतों का पालन करना पड़ता है परन्तु 'यम' में इन्द्रियों, मन आदि का संयम करना पड़ता है। अतः महर्षि पातञ्जलि योगदर्शन संकेत करता है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार

धारणा-ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।

(पातञ्जलि योगदर्शन २/२९)

चौरासी लाख योनियों में कल्याण परक मौका मनुष्य योनि में ही है। अतः विश्वसनीय है कि मनुष्य लोक में जीव आकर अपनी विशेष सावधानी से दैवी शक्ति सम्पदा प्राप्त कर शरीर तप द्वारा स्वयं को स्वयं से उद्धार करे। रामायण में स्वामी जी संकेत करते हैं—

कबहुंक करि करुना नर देही।

देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस ७/४४/३)

स्वयं गीता में भगवान कहते हैं—"जिसने अपने आपसे अपने आपको जीत लिया है उसके लिये आप ही अपना बन्धु है और जिसने अपने आपको नहीं जीता है ऐसे अनात्मा का आत्मा ही शत्रुता में शत्रु की तरह बर्ताव करता है।"

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य

येनात्मैवात्मना जितः।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे

वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(श्रीमद्भगवद् गीता ६/६)

★ भगवान के कार्य के लिए एक निर्दोष प्रामाणिक माध्यम बनना ही मनुष्य की सत्ता का उद्देश्य है और इसी प्रयोजन के लिये वह यहाँ आया है। लक्ष्य यही है और प्रयोजन यही है। मनुष्य की सत्ता का महत्व और प्रसन्नता इसी लक्ष्य के आनन्द में है।

★ ईश्वर के विचार को अपनी चेतना में प्रथम स्थान देना जीवन संग्राम जीतने की सरलतम विधि है।

—महायोगी अरविन्द

योगाभ्यास में नौली कर्म विधि तथा लाभ

□ श्री कृ० राजेश

षट् कर्म के अभ्यास के अन्तर्गत नौली कर्म योग साधना के क्षेत्र में बड़ा प्राणवान अङ्ग स्वीकार किया गया है। नौली कर्म से सम्पूर्ण शारीरिक, आरोग्य और मानसिक प्रसन्नता तथा निश्चिन्तता की प्राप्ति होती है। 'हठयोग प्रदीपिका' में इसका उल्लेख है कि अमन्द आवर्त के वेग से अपने उदर को दांये-बांये घुमाना चाहिये, यही नौली क्रिया है। यह मन्दाग्नि का दीपन करता है, भोजन को पूर्णरूप से पचाता है, शरीर में प्रसन्नता और आनन्द का संचार करता है, इसके द्वारा समस्त वातजन्य दोषों का नाश होता है।

अमन्दावर्त वेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैःप्रचक्ष्यते॥

दोनों पैरों के बीच एक हाथ का अन्तर रखते हुए दोनों हाथों से दोनों घुटनों को पकड़े। तत्पश्चात् कमर के ऊपरी भाग को इतना आगे की ओर झुकावे कि नाभि पर ६० अंश का कोण बन जावे, यह प्रारम्भिक स्थिति है। अब दोनों नासिका रन्ध्रों से अन्दर की वायु को बाहर निकालकर पेट को पूर्णतया पिचकावे अर्थात् पूर्ण उड्डियान लगावे। उड्डियान का अभ्यास पक्का हो जाने पर नल स्वयं बाहर उठने लगते हैं, नौली कर्म के दूसरे भाग में एक-एक नल को बारी-बारी से निकाला और घुमाया जाता है। पहले नल निकालने का और उसके बाद घुमाने का अभ्यास किया जाता है, तीसरे भाग में दोनों नलों को बाहर निकाल कर पहले एक ओर से फिर दूसरी ओर से घुमाया जाता है। इस क्रिया को शौच से निवृत्त होकर खाली पेट करना चाहिये, यदि नल न निकले तो निराश न हों, दस-पन्द्रह मिनट बाद रोज अभ्यास करने से यह अवश्य निकलने लगेगा, नौली करने वालों को विशेषतः दलिया और खिचड़ी खानी चाहिये। नल निकलने की स्थिति में बांये हाथ पर जोर देने से बांयी तरफ नौली आ जायेगी और दांये हाथ पर जोर देने से दक्षिण नौली हो जायेगी। इस प्रकार करने से नौली को घुमाना या उसका चक्कर देना स्वयं आ जाता है। तत्पश्चात् इसको अति वेग से साढ़े तीन चक्कर बांये और साढ़े तीन चक्कर दांये से बराबर घुमाना चाहिये यह नौली की पूरी क्रिया हुई। अपने कन्धों को नीचा करके योगी बहुत तीव्र जल के भँवर के समान वेग से उदर को दायीं व बांयीं ओर ओर से घुमावे। इस कर्म को सिद्धों ने नौली कर्म कहा है। नौली कर्म को योगाभ्यास में नौलिक, नल क्रिया, तथा न्योलि भी कहा जाता है। उपर्युक्त कर्म सुयोग्य योगाभ्यासी से ही सीखना चाहिये। इसे बैठकर भी कर सकते हैं। पद्मासन या सिद्धासन लगाकर शौच, स्नान, प्रातः संध्या आदि से निवृत्त होकर पेट साफ तथा हल्का हो जाने पर ही रेचक प्राणायाम के बाद (वायु को बाहर निकाल कर) बिना देह हिलाये केवल मनोबल से पेट को दाहिने ओर से बांये और बांये

ओर से दाहिने चलाना चाहिये, इसी प्रकार सायं प्रातः स्वेद आने पर्यन्त प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेट की स्थूलता जाती रहती है। इसके बाद यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीच में दोनों ओर से नल जुटकर मूलाधार से हृदय तक एक गोलाकार खम्भ खड़ा हो गया। इस खम्भ के बँध जाने पर ही नौलि कर्म सुलभ होता है। एकबार न्योलि चलने पर चलती ही रहती है। जिसका पेट हलका होता है उसके लिये एक ही मास के अभ्यास से नौलि कर्म सिद्ध हो जाता है। इस क्रिया के अभ्यास से पूर्व पश्चिमोत्तान आसन और मयूरासन का थोड़ा अभ्यास हो जाने पर नौलि क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जब तक आँत पीठ के अवयवों से अच्छी तरह पृथक न हो जाये तब तक आँत उठाने की क्रिया सावधानी से करनी चाहिये। अन्तड़ी में शोथ या पित्त प्रकोप जनित अतिसार, पेचिस आदि रोगों में नौलि क्रिया हानिकारक है।

नौलि क्रिया के लाभ

नौली से मन्दाग्नि का दीपन और अन्नादि भोजन का पाचन सुगम हो जाता है इसमें वातादि रोग नष्ट हो जाते हैं, अन्तड़ियों के नौलि के वश में होने से पाचन और मल का बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि क्रिया करते समय साँस की क्रिया तो रुक ही जाती है नौली क्रिया करने के बाद कण्ठ के समीप एक सरस स्वाद मिलता है। नौली जानने पर योगाभ्यास में प्रचलित तीनों बन्ध भी सुगम हो जाते हैं अतः नौली कर्म प्राणायाम का सोपान है। धोति और वस्ति में भी इसकी उपादेयता है। नौलि कर्म का क्या प्रभाव होता है? प्रायः सभी साधक जानते हैं इस क्रिया के द्वारा विष तक निकाला जा सकता है। कितने ही महात्माओं ने इस क्रिया द्वारा शरीर से विष निकाल लिया। ईर्ष्यालु लोगों ने उनको विष दिया और महात्माओं ने न्योलि द्वारा विष निकाल दिया और अपने आपको स्वस्थ रखा। बज्रोली के बिना न्योली हो ही नहीं सकती इसके अभ्यास से कफ, वात, पित्तजनित सर्व प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं।

सच्चा धन

★ जो प्रभु को प्राप्त कर लेता है, वह संसार का सर्वोत्कृष्ट धन और वैभव प्राप्त कर लेता है और जो प्रभु को खो देता है वह सभी कुछ खो देता है। जो प्रभु से हीन है, वही दरिद्र है और जो उसके साथ अलाप करता है वही सच्चा धनी है।

★ इन्सान को चाहिये कि अपनी अच्छी हालत में उन लोगों की तरफ मदद का हाथ बढ़ाता रहे जो दीन-दुःखी हों, सहायता के मोहताज हों, इसलिये कि दीन-दुखियों की मदद-इमदाद करने से इन्सान की बला टलती रहती है। जो धन दीन-दुखियों की मदद में काम नहीं आता, वह आखिर जालिम के हाथ का शिकार होता है।

★ विनम्र निवेदनं शिष्यस्य श्री गुरुचरणाननुद्दिश्य ★

(देववाण्यां हिन्दी काव्यानुवाद)

❀ श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
३०६-ए (अभिषेक) 'प्रियान्तिकुञ्ज' एल्डिको-उद्यान २,
उतरेटिया, रायबरेली रोड, (लखनऊ)

(१)

क्व गतो गुरुरस्मदीयकः, शिष्यान्स्वानपहाय दूरतः ।
ननु नाथ विहीन दीनकाः, वयमधुना करवाम किं प्रभो !

कहाँ हमारे गुरुवर चले गये, स्वकीय शिष्यों को तज दूर हमसे ।
बना गये नाथ विहीन दीन सब, अब क्या करें हम बतलाओ हे प्रभो !

(२)

संस्कारयुतेन पुण्यतो, भवतां सन्निधितां वयं गताः ।
भवतापि कृपालुना कृता, वयमधमेषु महा महा कृपाः ॥

किन्हीं पुण्य संयोग संस्कार युति से सान्निध्य पा हम हुए थे कृतार्थ ।
महा कृपा की गुरुवर कृपालु ने, अधम से अधम जानकर भी हमीं पे ॥

(३)

यत चेन्ननु भग्नपात्रता, किं कुर्याद भवतां दिदित्सिका ।
स्थिरतां कथमाप्नुयात्सदा, ननु यत्रोऽस्ति हि रिक्त पात्रता ॥

अहो ! जब हो टूटा हुआ पात्र कर में, करेगी कृपा दान-वाञ्छा भी तब क्या ।
कहाँ स्थैर्य हासिल किया है कभी भी जहाँ भग्नता में स्वयं पात्रता ही ॥

(४)

भवतानवतार तारणे, भवतप्तेष्ववने च माहशाम् ।
समभूदुत च प्रसारणे, पथभ्रष्टानथ योग कारणे ॥

हुए अवतरित आप जन तारणार्थ, मुझसे ही भवतापतप्तों की रक्षार्थ ।
धराधाम आये गुरुजी प्रसारार्थ, पथभ्रष्ट को योग के शिक्षणार्थ ॥

(५)

महतां वचनं च कर्म वा, अथवा महतां च वीक्षणम् ।
अपहर्त्तुमलं मलसंग्रहं, अन्तःस्थं सयदीति शुश्रुमः ॥

महान् पुरुषों के वाक् कर्म आदि, या फिर रहा देखना मात्र उनका ।
अन्तःस्थ कल्मष हटाते रहे हैं, सदा सर्वदा हम यही सुन रहे हैं ॥

(६)

वयमद्य भवोत्थमोहतः भवतां वपुषा दिदृक्षवः ।
भवतां तद् सौम्य श्रीयुतं, श्मश्रुभिः परिवेष्टितं मुखम् ॥
नहीं आज हम संसृतिजन्य मोह से, देहस्थ गुरु-दर्शन चाहते हैं ।
श्रीयुक्त उनके ही मुखारविन्द को, दाढ़ी घने श्री गुरुदेव मुख को ॥

(७)

शुश्रूषव एव वा पुनः, भवतां श्री मुखतः स्वकं प्रति ।
मधुरं मधुरं 'लला' इति, लकार द्वययुक्त शब्दकम् ॥
हमारी रही यह सुनने की इच्छा, पुनः पुनः श्रीमुख से स्वयं प्रति ।
'लला' लकार द्वय शब्द वह ही, मधु से मधुर वाला गुरुवर के मुख से ॥

(८)

भवतां वचनानि साम्प्रतं, शृणुमोऽद्यावधि तानि 'टेपतः' ।
भवतां मुखतो वचांसि वै, श्रवणाय वयमद्य वंचिताः ॥
गुरुवर के वचनों को अब भी, टेप-ध्वनि में श्रवण कर रहे ।
साक्षात् श्रीमुख के वचनों से, वंचित हैं हम श्री गुरुवर के ॥

(९)

नैवास्ति देहे गुरुरस्मदीयो, तथापि तेषां वचनानि सन्ति ।
पाथेयभूतानि स्मरन्तु तानि, सर्वत्र सन्तापहराणि सन्ति ॥
नहीं देह में अब विराजित हैं गुरुवर, वाणी उन्हीं की अमर हो रही है ।
पाथेय अब वह वही बन चुकी है, सदा सर्वदा ताप हारी रही है ॥

(१०)

गुरोः प्रदत्तं स्ववपुरेव रूपं, मन्त्रे विनिस्थापितमस्ति सर्वम् ।
जापे च ध्याने भवतां स्वरूपं, वयं मन्महे दर्शन सौकराय ॥
प्रदत्त जो है गुरुदेव-मन्त्र, सभी कुछ हुआ स्थापित मन्त्र में है ।
जपन-ध्यान में हम भवदीय रूप का, हम मानते, दर्शन पा रहे हैं ॥

(११)

ध्याने स्थित्वा वयमिह सकलं चिन्तने प्रेक्षणे च,
भूयासः सफलास्सदा क्व इह चिन्ताऽस्मदीया भवेत् ।
गुरवो नः सकले हि शिष्य घटके ध्यात्वा स्थित आत्मनि,
वाञ्छा चेत्तद्रूपममृतमहो सेवस्व रात्रिन्दिवम् ॥
ध्यानस्थ हो चिन्तन वीक्षणादि से, साफल्य सम हो भला तब क्या चिन्ता ।
आत्मस्थ सब शिष्य गुरुवर, हमारे, देखा करें अहर्निश गुरुरूप को वे ॥ ★

शील

श्री विष्णुप्रसाद व्यास (बीना)

सीलवन्त सबसे बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आनि॥

संसार में सबसे महान मनुष्य वही है, जो शीलवन्त है, क्योंकि वह सब गुण रूपी रत्नों की खान है अर्थात् उसके अन्दर सभी सद्‌गुण विद्यमान रहते हैं। शील को अपनाकर मनुष्य तीनों लोकों की सम्पदा का स्वामी बन जाता है।

शील का शाब्दिक अर्थ है—सदाचरण। एक शील जैसे शुभ गुण को अपना लेने पर शेष सब गुण मनुष्य के अन्दर स्वयमेव आ विराजते हैं। सदाचारी मनुष्य मन, वचन और कर्म से सबका भला ही सोचता है और करता है, वह किसी का भी अहित नहीं चाहता, न ही उसके मन में किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोध की भावना विद्यमान होती है, फलस्वरूप उसका जीवन सदैव सुख-सम्पदा से भरपूर रहता है।

इसके विपरीत शील से हीन मनुष्य में शनैः-शनैः सभी अवगुण आ विद्यमान होते हैं। ऐसा मनुष्य सदैव ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोध की अग्नि में जलता रहता है और दुःखी एवम् अशान्त रहता है। वह सदैव दूसरे का बुरा ही सोचता है, ऐसे मनुष्य का शीघ्र ही नाश हो जाता है।

दुर्योधन कदाचारी था और उसके अन्दर सभी अवगुण विद्यमान थे। वह पाण्डवों से वैर और द्वेष रखता था, फलस्वरूप सदैव दुःखी और अशान्त रहता था। उसके चेहरे पर हर समय उदासी छायी रहती थी। एक दिन राजा धृतराष्ट्र ने उसे बुलाकर पूछा—संसार के सब भोगैश्वर्य एवम् सुख सुविधा के सामान तुम्हें उपलब्ध हैं, फिर हर समय तुम दुःखी क्यों रहते हो?

दुर्योधन ने उत्तर दिया—पाण्डवों की सुख सम्पदा और ऐश्वर्य देखकर। उन्हें सुखी देखकर मेरे हृदय में ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि भड़क उठती है।

दूसरे का सुख देखकर दुःखी होने वाले दुर्योधन पर यद्यपि किसी उपदेश का असर होना असम्भव था, तथापि पिता का धर्म चूंकि पुत्र को सदा सन्मार्ग पर लगाना है, अतः धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से कहा—बेटा! मैं तुझे एक कथा सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुन। एक राजा ने शील और तप के प्रताप से तीनों लोकों को हिला दिया। हर ओर उसके शील की चर्चा होने लगी। स्वर्ग के राजा इन्द्र को इन्द्रासन की चिन्ता सताने लगी। अन्ततः इन्द्र को एक युक्ति सूझी। वह एक युवक ब्राह्मण का वेष बनाकर उस राजा के

पास पहुँचा और उसकी सेवा करने लगा। उसने कई दिनों तक तन-प्राण से राजा की सेवा की। राजा उसकी सेवा से प्रसन्न होकर बोला—मैं तुम्हारी सेवा से बड़ा प्रसन्न हूँ। जो कुछ चाहो माँग लो। तुम जो कुछ भी माँगोगे, तुम्हें दिया जायेगा।

छद्मवेशी इन्द्र ने कहा—आप अपना शील मुझे दे दीजिये। राजा यह सुनकर चौंका, परन्तु वह वचन दे चुका था, इसलिये बोला—अच्छा ऐसा ही हो।

राजा के ये शब्द कहते ही उसके अन्दर से एक तेज प्रकट हुआ, जो साकार रूप से उसके सामने खड़ा हो गया। राजा ने पूछा—तुम कौन हो?

उसने उत्तर दिया—मैं शील हूँ। चूँकि आपने मुझे इन्द्र को दे दिया है, इसलिये आपको छोड़कर मैं इन्द्र के पास जाता हूँ। यह कहकर वह तेज इन्द्र में प्रवेश कर गया।

तब एक और तेज उस राजा के अन्दर से निकलकर उसके सामने खड़ा हो गया। राजा ने उससे पूछा—तुम कौन हो?

उसने उत्तर दिया—मैं धर्म हूँ। जहाँ शील रहता है, मैं भी वहीं रहता हूँ, इसलिये मैं भी अब इन्द्र के पास जाता हूँ।

उसके बाद तीसरा तेज निकला। राजा ने पूछा—तुम कौन हो?

उस तेज ने उत्तर दिया—मैं सत्य हूँ। मैं सदा धर्म के साथ रहता हूँ। जहाँ धर्म गया है, मैं भी अब वहीं जाता हूँ। ऐसा कहकर सत्य भी इन्द्र में प्रवेश कर गया।

तब चौथा तेज प्रकट हुआ। राजा ने पूछा—तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया—मैं दृढ़ निश्चय हूँ। जहाँ सत्य रहता है, मैं वहीं रहता हूँ, इसलिये मैं भी इन्द्र के पास जाता हूँ।

तब एक और तेज राजा के सामने प्रकट हुआ। राजा ने उससे भी पूछा—तुम कौन हो?

उसने उत्तर दिया—मैं श्री (लक्ष्मी, कीर्ति, यश, ऐश्वर्य आदि) हूँ। जहाँ आत्म-बल रहता है, वहीं मैं भी रहती हूँ। यह कहकर वह तेजपुञ्ज भी इन्द्र में प्रवेश कर गया।

इस प्रकार एक शील का त्याग कर देने से वह राजा धीरे-धीरे सभी सद्‌गुणों और सुख-सम्पत्ति से विहीन हो गया।

इसलिये हे दुर्योधन! मेरा कहना मानकर तुम अपने हृदय में शील को धारण करो। शील को धारण करने से तुम सभी सद्‌गुणों से भरपूर हो जाओगे, जिससे तुम्हारा जीवन सुख एवं शान्तिपूर्वक व्यतीत होगा।

किन्तु दुर्योधन पर उस उपदेश का कोई प्रभाव न पड़ा। उसने अपने पिता का कहना न माना और शील जैसे सद्‌गुण को अपने हृदय में स्थान न दिया। फलस्वरूप वह सभी सद्‌गुणों से वञ्चित हो गया, बुराइयों ने उस पर अपना प्रभुत्व जमा दिया जिससे शीघ्र ही उसका सर्वनाश हो गया।

इसलिये शील को हृदय में धारण करो ताकि तुम सभी सद्‌गुणों से भरपूर हो जाओ, और तुम्हारा जीवन सुखी और समृद्ध हो जाये, किन्तु यह तभी सम्भव है जबकि तुम सद्‌गुरु की चरण-शरण ग्रहण करके उनके वचन का पालन करोगे। सद्‌गुरु के वचन में सभी सद्‌गुण समाये हुए हैं।

तन्त्र में मन

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
बिहार योग विद्यालय, शिवानन्दाश्रम,
मुंगेर (बिहार)

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

मन सदा प्रकाशित हो रहा है और अभी भी हो रहा है लेकिन आप देख नहीं पाते हैं। मैं आपसे बातें कर रहा हूँ अतः आपकी इन्द्रियाँ व्यस्त हैं। आप अपने मन को अलग कर लीजिये, आपको अन्दर के सुन्दर दृश्य दीखने लगेंगे। आप आध्यात्मिक जीवन की जितनी गहराई में जायेंगे, आपकी आन्तरिक सजगता उतनी ही बढ़ेगी, आप मन के व्यवहार के प्रति उतना ही जाग्रत होते जायेंगे। इसलिए तन्त्र में लोग मन को मारने में विश्वास नहीं करते, वे सभी स्वरूपों का स्वागत करते हैं। मन हमारी समस्या नहीं, हम चाहते हैं कि हमें सत्यानुभूति हो जाय बस। अतः जब आप मन्त्र, यन्त्र या क्रियाओं का अभ्यास करते हैं तो ध्यान रखना कि अपने मन से लड़ना नहीं है। आप केवल अपने अभ्यास का ध्यान रखना व नियमित रूप से अपना अभ्यास चालू रखना। आप मन के साथ कोई हस्तक्षेप नहीं करना। तब आपको किसी भी समय अनुभूति हो जायेगी। क्रियायोग के अभ्यास में एक ऐसी स्थिति आती है जब आपको न चाहते हुए भी विकसित चेतना का अनुभव होता है। तन्त्र शक्ति का निर्मुक्तिकरण है।

तन्त्र में ऐसा विश्वास करते हैं कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य समष्टि चेतना या शक्ति का अन्वेषण है। यह शक्ति है किन्तु इसे पूर्ण या शून्य भी कहा है। शून्य का एक अंश देश, दूसरा काल व तीसरा विषय का प्रतिनिधित्व करता है। यह बिन्दु "सम्पूर्ण" का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें वृत्त का एक अन्य भाग भावातीत चेतना का संकेत है। यह सत्य का स्वरूप है, यही सृष्टि या ब्रह्माण्ड रूप है।

तन्त्र में बिन्दु का बड़ा महत्व है। तन्त्र के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बिन्दु का एक विकसित रूप माना गया है, पदार्थ का निर्माण भी बिन्दु से ही हुआ है। बिन्दु एक है मगर यह करोड़ों लोगों में विभक्त हो गया है, यह असीम है, अपार है। आपको जो भूत वर्तमान और भविष्य का ज्ञान हो रहा है वह बिन्दु का स्वरूप है। भ्रूमध्य का केन्द्र समष्टि मन का केन्द्र है। यह अणुरूप बिन्दु ही सृष्टि-रूप में प्रकट होता है। जब आप इस बिन्दु पर ध्यान करते हैं तो क्या होता है? देश-काल का समन्वय होता है। साधारणतः दोनों में बड़ा अन्तर है। सोचिये देश-काल क्या है? ये मन में हैं और मन के गुण हैं।

यदि देश-काल न हों तो मन नहीं होगा और यदि मन नहीं होगा तो देश-काल नहीं हो सकता। जब आप बिन्दु पर ध्यान करते

है तो देश-काल नजदीक होते हैं, उनकी दूरी मिटती है। एक शिव है, दूसरा शक्ति, एक पुरुष है दूसरा प्रकृति। यदि देश व काल को अलग कर दोगे तो मन नहीं रहेगा। उनको नजदीक लाओ तो मन बनेगा। जिस प्रकार बिजली के दो तार मिला देने से बिजली की किरण फूटती है, वैसे ही देश-काल को मिला देने से शक्ति का विस्फोट होता है। तन्त्र के अनुसार यही आत्मा का एक स्वरूप है।

आध्यात्मिक मार्ग में अनुभूतियों को शब्दों में प्रकट करना कठिन है। शब्द केवल समझने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। जब मैं विस्फोट कहता हूँ तो उसे समझना। यह बिन्दु बम के पदार्थ की तरह हुआ तथा देश-काल रूपी दो हुए इसके तार। इनको फेंको तो हमारा क्या अस्तित्व रह जायेगा? कुछ नहीं। मृत्यु के समय देश व काल समष्टि मन में विलीन हो अलग-अलग पोल में मिल जाते हैं, शरीर छोड़ देते हैं तथा दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। मैं देश-काल से मुक्ति की बात नहीं कह रहा, मैं तो आपके आध्यात्मिक जीवन में देश-काल की भूमिका समझा रहा हूँ। अतः जब आप भ्रूमध्य से बिन्दु का अध्ययन करते हैं तो अनुभव करना कि देश-काल नजदीक आ रहे हैं। दोनों के मिलने पर जब विस्फोट होता है तो पदार्थ बाहर आता है, समष्टि मन विभाजित होता है। जिस प्रकार अणुबम के विस्फोट पर विभाजन होता है, उसी प्रकार की अनुभूति आपको उस समय होगी। यह आपके जीवन का लक्ष्य है। यह आपके जीवन का लक्ष्य-बिन्दु है। जब आप अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं तो क्या होता है? आप विश्व-विद्यालय छोड़कर अन्य क्षेत्र में कार्य संभालते हैं। इसी प्रकार आप लक्ष्य-पूर्ति के बाद सृजनात्मक कार्य करते हैं। आप उस व्यक्ति को जूनियर गाड या भगवान स्वरूप भी कह सकते हैं।

तन्त्र शास्त्र मानव को इसी रास्ते पर ले जाता है। हजारों वर्षों से हम धार्मिक पथ पर चलते आये हैं, किन्तु हम अच्छे नहीं बने हैं, हमने पवित्र रहना चाहा पर रह नहीं पाते हैं क्योंकि हम सभी आन्तरिक समस्याओं की उलझन में रहते आये, उनका समाधान किया नहीं। करोड़ों-करोड़ों लोग धर्म के पथ पर चल रहे हैं परन्तु उनमें से गिनती के ही व्यक्ति सही मार्ग पर चल पाये हैं। क्या इसे हम सफलता कह सकते हैं? इसका अर्थ है वह मार्ग गलत है।

अन्त में यह तन्त्र-मार्ग सबके लिए है, किसी धर्म-विशेष के लिए नहीं। आप किसी भी व्यवसाय या धर्म से सम्बन्धित क्यों न हों, केवल पन्द्रह मिनट रात में अपने मन्त्र का उच्चारण करना, चित्त को बिन्दु में लगाना। तन्त्र में "ओ" का छोटा एवम् "म्" का लम्बा उच्चारण किया जा सकता है। इससे विशिष्ट तरंगें उत्पन्न होती हैं जो मन व मस्तिष्क को शान्त करती हैं।

पतंजलि एवं चरक के अनुसार योग का स्वरूप

☐ डा० नरेश कुमार ब्रह्मचारी, पी-एचडी०, एन० डी०, डि-लिट
अध्यक्ष—पाताञ्जलि योग समाज, दिल्ली
सहायक निदेशक—विश्वायतन योगाश्रम, नई दिल्ली

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

(६) दिव्य स्मरण शक्ति—जन्मान्तर अथवा बहुत काल पहले की बातों की स्मरण कर सकने अथवा अत्यधिक विस्तारयुक्त विषय को याद कर सकने की शक्ति को दिव्य स्मरणशक्ति कहते हैं। जन्मान्तर तक पूर्व की बातों को स्मरण शक्ति कहते हैं। जन्मान्तर तक पूर्व की बातों के स्मरण की योग्यता के विषय का विस्तार भी स्वतः हो जाता है। अतः इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि जन्म-जन्मान्तरवर्ती विषयों के स्मरण का नाम ही दिव्य स्मरण शक्ति है। पतञ्जलि के अनुसार—संयम के द्वारा संस्कारों को प्रत्यक्ष करने से पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है। भाष्यकार के मतानुसार ये संस्कार दो प्रकार के हैं—एक स्मृति रागादि क्लेश के हेतु जो वासनारूप हैं और दूसरे जो जाति, आयु, सुख-दुःखपभोग रूप विपक के हेतु होने से धर्माधर्म रूप हैं। वे संस्कार अप्रत्यक्ष हैं—वे संस्कार इस तथा पूर्व जन्म में निष्पादित कर्मों के हैं तथा परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति तथा जीवन आदि के समान अदृष्ट रूप से चित्त में वर्तमान होकर रहते हैं—तथा चित्त ही के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। जन्मभूमि आदि विशिष्ट देश, सत्ययुगादि काल, माता-पितादि निमित्त के अनुभव के बिना उन संस्कारों का साक्षात्कार होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार के संयम द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार करने से योगियों को पूर्व जन्म का ज्ञान उत्पन्न होता है। स्वसंस्कार विषयक संयम को अन्य पुरुष के संस्कार में भी अतिदेश करते हैं। दूसरे आत्मा के चित्त में भी इसी प्रकार संयम द्वारा संस्कार को साक्षात् करने से दूसरे आत्मा के पूर्व जन्म का भी ज्ञान होता है। यह पूर्व-जन्मों का ज्ञान दिव्य स्मृति के प्रभाव से ही होता है जैसा जिजैषव्य को दस महासर्गों में हुए अपने समस्त जन्मों का ज्ञान हो गया था।

(७) दिव्य देह कान्ति—शरीर पर असाधारण चमक व तेज को दिव्य कान्ति कहते हैं। वृत्तिकार भोज के अनुसार—

भ्राजक पित्त नाम त्वचा पर स्थित रहने वाली शरीराग्नि को सब ओर से घेर कर विद्यमान रहने वाली समान नामक वायु के जय से संयम द्वारा वश में कर लेने पर आवरण रहित अग्नि का ऊर्ध्वगमन होने से उस अग्नि के तेज से जलता हुआ योगी प्रतीत होता है। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है समान वायु का स्थान नाभि है जहाँ आमाशय और पक्वाशय में वर्तमान पाचकपित्त की कार्य स्थली है। यह पाचक पित्त समान वायु द्वारा ही नियन्त्रित होता है तथा अन्य रंजक, आलोचक, साधक भ्राजकादि पित्तों की धुरी है अर्थात् पाचक पित्त कथित जठराग्नि के

ठीक रहने पर ही रंजक पित्त का खून में लालिमा उत्पन्न करने का कार्य, साधक पित्त का मेधा को बल देने का कार्य, आलोचक पित्त या दृष्टि का देखने का कार्य तथा भ्राजक पित्त का शरीर की त्वचा को चमकाने के कार्य निर्भर हैं। अतः समान वायु के जय से जब योगी का पाचन पित्त प्रबल हो जाता है तो उसके अनुग्रह से रंजक और भ्राजक पित्त के ठीक-ठीक कार्य करने से योगी का शरीर अनुपम लालिमा और चमक से जलती हुई अग्नि के तुल्य प्रभावान प्रतीत होता है।

(८) अन्तर्धान होने की शक्ति—सम्मुख स्थित रहते हुए भी किसी को दिखाई न देना अन्तर्धान होना कहलाता है। अन्तर्धान होने की प्रक्रिया को वृत्तिकार भोज ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

काय शरीर है, उस शरीर का रूप चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण है। उस शरीर में रूप नामक गुण विद्यमान है। इस प्रकार काय के रूप पर धारणा, ध्यान, समाधि रूप संयम का प्रयोग करने से शरीर के रूप की जो नेत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाने वाली शक्ति है उस शक्ति को अवरुद्ध कर लेने पर अर्थात् प्रबल संकल्प से रोक लेने पर चक्षु के प्रकाश का शरीर के रूप के साथ सम्बन्ध न होने पर प्रकाश जो चक्षु का सत्वगुण विशिष्ट धर्म है उस प्रकाश का रूप के साथ संयोग न होने से शरीर के रूप को ग्रहण करने वाले व्यापार के अभाव में शरीरगत रूप का चक्षु के प्रकाश से ग्रहण न होने पर योगी का शरीर अन्तर्हित हो जाता है, अर्थात् किसी भी मनुष्य के द्वारा वह योगी दिखाई नहीं पड़ता। यह अभिप्राय है—इस प्रकार शरीर के रूप के अदृश्य होने के उपाय के वर्णन से श्रोत्र, त्वक् इत्यादि इन्द्रियों के ग्रहण किये जाने वाले शब्द, स्पर्श इत्यादि का अन्तर्धान भी जान लेना चाहिए अर्थात् शरीर के रूप में संयम करने से जैसे रूप का अन्तर्धान हो जाता है वैसे ही अपने शब्द में संयम करने से योगी स्वोच्चारित शब्दों को दूसरों के कानों से, अपने शरीर की गन्ध को दूसरों की घ्राणेन्द्रिय से तथा अपने शरीरगत स्पर्श, रसादि का अन्तर्धान भी संयम के प्रयोग से कर सकता है। इस प्रकार चरक तथा योगोक्त योगी को योग की सिद्धि के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले अष्टविध ऐश्वर्य योगी को इस सांसारिक ऐश्वर्य के स्वरूप पर विचार समाप्त हुआ। ये अष्टविध ऐश्वर्य योगी को इस सांसारिक ऐश्वर्य और उपभोगों से ऊपर उठाकर दिव्य-जगत् का प्राणी बना देते हैं। तो भी सांसारिक ऐश्वर्यों की भाँति ये ऐश्वर्य राग के उत्पादक होने के भय से श्रेय ही समझे जाते हैं क्योंकि योगी का परम लक्ष्य तो चित्त की परम शुद्धि द्वारा मोक्ष को प्राप्त करना है, लौकिक वा पारलौकिक ऐश्वर्यों का संग्रह करना नहीं। योगाभ्यास के अनुष्ठान से शुद्ध हुआ चित्त ही इन अलौकिक ऐश्वर्यों, ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा मोक्ष का हेतु बनता है।

योग द्वारा विशुद्ध हुए चित्त का स्वरूप

योग दर्शन में योगाभ्यास से विशुद्ध हुए चित्त को समस्त ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति में समर्थ बताया है। वृत्तिकार भोज निर्मल चित्त का वर्णन करते हुए कहते हैं—

क्षीणवृत्ति चित्त अर्थात् वह चित्त जिसकी वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं उसको ग्रहण करने वाले पुरुष, ग्रहण करने के साधन, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ, तथा ग्रहण किये जाने वाले सूक्ष्म और स्थूल विषयों में स्थित होना और

उनके साथ एकाग्रता प्राप्त कर लेना ही समाधि है। विषयों में स्थित होने का नाम उन विषयों में चित्त की स्थिरता तथा एकाग्रता होना है और तदंजनता से अभिप्राय विषयों के साथ अहंताभाव से तद्रूप हो जाना है। वृत्ति रहित चित्त में ध्यान किए जाने वाले विषय का ही आधिपत्य होता है तथा उसी रूप का परिणाम होता है। चित्त की निर्मलता के इस विषय को एक दृष्टान्त की सहायता से स्फुट करते हैं जैसे निर्मल स्फटिक मणि समक्ष आये विषय के वश से उसी रूप को प्राप्त कर लेती है अथवा जैसे स्वच्छ मणि के नीचे लाल और पीले दो पुष्प रख देने पर मणि पुष्पों के आकार की छाया को प्राप्त कर लेने के कारण कहीं लाल पुष्प के रूप में, कहीं पीले पुष्प के रूप में तथा छोड़े हुए खाली स्थान में से श्वेत रूप में भासित होती है। इसी प्रकार चित्त ग्राह्याकार, ग्रहण करने वाले पुरुष और अपने आकार में भासित होता है—इस प्रकार हमने देखा कि योगाचार्यों ने निर्मल हुए वृत्ति रहित चित्त को स्वच्छ, शुभ्र स्फटिक मणि से उपमा दी है तथा मणि के तुल्य ही स्वच्छ तथा ध्येय विषयों में स्थिरता तथा तद्रूपता प्राप्ति के योग्य माना है। चरक ने भी योगज निर्मलता युक्त चित्त का स्वरूप इससे मेल खाता हुआ वर्णन किया है। चरक कहते हैं—

जैसे तेल, वस्त्रखण्ड तथा बाल आदि द्वारा भली भाँति माँजने से दर्पण शुद्ध हो जाता है वैसे इन शुद्धि के उपायों से चित्त की मलिनता दूर हो जाती है। राहु केतु ग्रहण, मेघ, धूलि, धुँआ नीहार—इनसे आच्छन्न न हुआ सूर्य मण्डल जैसे दीप्त होता है वैसे ही निर्मल मन दीप्त होता है। इस प्रकार चरक ने भी चित्त को निर्मल दर्पण से उपमा दी है जो योगोक्त स्फटिक मणि की उपमा से सर्वथा मिलती-जुलती है। इतना ही नहीं चरक द्वारा मान्य सत्या बुद्धि का स्वरूप भी योगोक्त ऋतम्भरा प्रज्ञा से बहुत अंशों में समानता रखता है। देखिये चरक का सत्याबुद्धि का वर्णन—

आत्मा में रोका हुआ मन मार्ग के रुके होने के कारण प्रकाशवान होता है। जैसे दीपक की ज्वाला दीपाश्रय अर्थात् चिमनी में रुके रहने से शुद्ध, स्थिर एवम् स्वच्छ प्रभा वाला होकर प्रकाशवान् होता है अर्थात् जैसे लैम्प से अधिक स्थिर, स्वच्छ और उज्ज्वल प्रकाश प्राप्त करने के लिए तथा बाहर के वायु, धूल, वर्षादि से बचाने के लिए चिमनी चढ़ा देते हैं उसी प्रकार मन को शुद्ध, स्वच्छ ज्ञानरूप प्रभा युक्त करने के लिये आत्मा रूप चिमनी में स्थिर कर देते हैं। इस प्रकार मन पर बाह्य विषयों का प्रभाव न पड़ सकने से मन रजोगुण की आँधी अथवा तमोगुण की धूलि से डाँवाडोल नहीं होता है। शुद्ध मन वाले पुरुष को जो शुद्ध सत्याबुद्धि की उपलब्धि होती है, उसके द्वारा योगी अत्यन्त बलवान् महामोहमय अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देता है तथा जिसके द्वारा समस्त भावों को जानने वाला तथा इच्छारहित हो जाता है, जिसके द्वारा योग की सिद्धि होती है, जिससे तत्वज्ञानी बन जाता है जिसके द्वारा अहङ्कार से अछूता रह सकता है, जिसके द्वारा आवागमन रूप मृत्यु पाश से छूट जाता है, जिसके द्वारा कुछ भी आलम्बन नहीं करता अर्थात् किसी भी प्राकृतिक विकार में योगी की आसक्ति नहीं रहती, जिसके द्वारा सब कुछ त्याग दिया जाता है, जिसके द्वारा नित्य, जरारहित शान्त और अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है—उस सत्य को धारण करने वाली—सत्या बुद्धि को ही

विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा व ज्ञान कहा जाता है।

चरक ने इस ऋतम्भरा बुद्धि को सत्या बुद्धि नाम दिया है, वह भी ऋतम्भरा का पर्यायवाची ही है क्योंकि ऋत नाम सत्य का है, अतः योगज पवित्र बुद्धि को सत्य को ही धारण करने वाली होने से ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। पुनः उसे सत्या बुद्धि कहने में तो लेशमात्र भी अन्तर नहीं आता, केवल नाम-मात्र का अन्तर अवश्य है। हाँ चरक ने सत्या बुद्धि के स्वरूप या महिमा का जो निरूपण किया है वैसा महात्म्य चाहें सूत्रों में कहीं भी नहीं गाया गया तथापि सूत्रोक्त ऋतम्भरा प्रज्ञा के वर्णन में सारपूर्णता है वह सम्भवतः अन्यत्र उपलब्ध न हो सके। योगदर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनेक नाम हैं। जिस प्रकार चरक ने उसे विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा या ज्ञान कहा है उसी प्रकार योगदर्शन में इस योगज सात्विकी बुद्धि को विवेकख्याति, प्रसंख्यान, ऋतम्भरा, विवेक ज्ञान, तारक ज्ञान तथा मधुमती तथा सप्तधा प्रज्ञा आदि अनेक नाम दिए गए हैं। सप्तधा प्रान्त भूमि प्रज्ञा का वर्णन करते हुए भाष्य-कार व्यास कहते हैं—

उस विवेकज्ञान प्राप्त योगी को रज, तम, आदि अशुद्धि के आवरण का अभाव होने पर राजस, तामस प्रयुक्त व्युत्थान प्रत्यय की उत्पत्ति न होने से सात प्रकार की प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

(१) परिणाम ताप संस्कारादि दुःखता से युक्त समस्त संसार रूप हेय को मैंने भली-भाँति जान लिया है अब इस विषय में जानने योग्य अन्य कुछ नहीं रहा।

(२) हेय के हेतु-भूत मेरे निखिल अवि-द्यादि क्लेश क्षीण हो चुके हैं। अब इनमें कोई क्षय करने योग्य नहीं रहा।

(३) असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा मैंने संसार निवृत्ति रूप होने को प्रत्यक्ष कर लिया है, अब कुछ जानने योग्य नहीं रहा।

(४) विवेक ख्यातिरूप मोक्ष का उपाय मैंने सिद्ध कर लिया—यह चार प्रकार वाली प्रयत्न साध्य प्रज्ञा की समाप्ति है, चित्त के गुणाधिकार की समाप्ति नहीं। प्रयत्न साध्य चार प्रकार की इस प्रज्ञाविमुक्ति का निरू-पण करके अब अप्रयत्नसाध्य तीन प्रकार वाली चित्त विमुक्ति का निरूपण करते हैं वे इस प्रकार हैं—

(५) मेरी बुद्धि भोग अपवर्ग का सम्पादन करके समाप्त अधिकार वाली हो चुकी है।

(६) चित्त के उपादान कारण रज, सत, तम आदि तीनों गुण गिरी के शिखर से गिरे पत्थरों की स्वयं को निराधार होकर उस चित्त के साथ ही अस्तभाव को प्राप्त हो चुके हैं। प्रयोजन के अभाव में अत्यन्त लीन हुए इन गुणों की पुनः उत्पत्ति नहीं है।

(७) इस अवस्था में सत्वादि गुणों के सम्बन्ध से रहित ज्योतिस्वरूप तथा निर्मल हुआ पुरुष केवली तथा जीवन्मुक्त कहा जाता है। इस प्रकार हमने व्यास भाष्योक्त ऋत-म्भरा प्रज्ञा जन्य कैवल्यमयी स्थिति में विवेकज्ञान को प्राप्त योगी की अनुभव मात्रा को विस्तार सहित देखा। इसमें चित्तादि की कृतप्रयोजनता एवं कारण में लीनता का भी

बुद्धिग्राही वर्णन है जिससे यह सत्य समझ में आ जाता है कि विवेकज्ञान के सम्यगुदय के पश्चात् पुनः जन्म क्यों नहीं लेना पड़ता तथा विवेक ज्ञान की प्राप्ति होने पर आत्मा का सम्बन्ध चित्त रूप अन्तःकरण तथा कर्माश्रय जन्य शरीर से प्राप्ति आदि से किस प्रकार छूट जाता है। चरक ने भी मोक्ष की उस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—

हे सौम्य ! यह वह विज्ञान है जिसे जानकर संशय रहित एवं मोह, काम तथा रागादि से रहित होकर मुनि लोग शान्ति को प्राप्त हो गये। शरीर के छूट जाने पर आत्मा का का कारण अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि के अभाव होने से आत्मा का जो प्राणापान निमेष उन्मेषादि तथा सुख-दुखादि लिंग है वह भी नहीं पाया जाता। अतः सब कारणों का अभाव होने से तथा नए शरीर को देने वाले अविद्यादिक क्लेश तथा कर्म-फल वासना का भी अभाव होने से पुरुष मुक्त हो जाता है।

सन्त वचन

★ पानी में पत्थर सैकड़ों वर्ष पड़ा रहे, लेकिन पानी उसके भीतर नहीं घुस सकता; इसके विपरीत चिकनी मिट्टी पानी के स्पर्श से ही घुलने लगती है। इसी प्रकार भक्तों का दृढ़ हृदय कठिन-से-कठिन दुःख पड़ने पर भी कभी निराश नहीं होता, लेकिन दुर्बल श्रद्धा रखने वाले पुरुषों का हृदय छोटी-छोटी बातों से हताश होकर घबराने लगता है।

× × ×

★ इसमें सन्देह नहीं कि यह सांसारिक जीवन उस मनुष्य के लिये बहुत भयानक है, जिसके अन्तःकरण में ईश्वर के लिये प्रेम और भक्ति न हो। श्री चैतन्य देव ने एकबार नित्यानन्द जी से कहा था कि 'जो मनुष्य सांसारिक विषयों का गुलाम हो गया, उसको मुक्ति नहीं मिल सकती; परन्तु जो मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा रखता है, उसको कुछ भय नहीं। ईश्वर की प्राप्ति हो जाने के बाद यदि मनुष्य इस संसार के सब विषयों का उपभोग करता रहे तो उसको कोई हानि न होगी।' चैतन्य देव के शिष्यों में बहुतेरे संसारीजन थे, परन्तु नाममात्र के लिये ही 'संसारी' थे।

—स्वामी रामकृष्ण परमहंस

चित्त एवम् चिति-शक्ति

(पृष्ठ ८ का शेष)

वैशेषिक दर्शन में चित्त को एक समय में ही ज्ञान वाला होने के कारण अणु माना गया है अर्थात् इसकी व्यापक सत्ता नहीं माना है। किन्तु श्रुति में "अनन्तं वै मनः" कहकर चित्त को अनन्त अर्थात् विभु माना है। योगदर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी की चित्त की दशा व शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। समाधि के दृढ़तर अभ्यास से जब चित्त पुरुषाकारापन्न होता है तब वह भी विभुवत् हो जाता है।

संसार में आत्म तत्व एवम् मूल प्रकृति को छोड़कर सभी पदार्थ निरन्तर गतिमान हो रहे हैं। इसी कारण से उनमें परिणाम व परिवर्तन होता रहता है। चित्त भी प्रकृति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश होने पर भी निरन्तर गतिमान रहता है उसकी गति को रोका नहीं जा सकता। निर्बीज समाधि में ही चित्त के अपने कारण अव्यक्त में लय कर दिये जाने पर ही वह अक्रिय होता है। योग शास्त्र में जहाँ चित्त की चञ्चलता को स्वीकार किया गया है वहाँ इसकी एकाग्रता के धर्म को भी माना गया है अर्थात् चञ्चल होना तथा एकाग्र होना दोनों ही चित्त के धर्म हैं। रजोगुण, तमोगुण की प्रधानता में चित्त चञ्चल रहता है तथा सतोगुण की प्रधानता में एकाग्र रहा करता है। इसलिये एकाग्रता तथा समार्थता दोनों चित्त के धर्म हैं। चित्त को जब एकाग्रावस्था में लाया जाता है तब उसे एक ही प्रकार के ज्ञान प्रवाह में प्रवाहित किया जाता है। जो विवेक ज्ञान एवम् वैराग्य परक रहा करता है। इस प्रकार से एक ही प्रकार के सत्व के ज्ञान प्रवाह में चित्त के बहते रहने का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त वृत्तियाँ तो समाप्त हो जाती हैं किन्तु निर्वाण की एक वृत्ति शेष रहती है। जो कैवल्यावस्था तक रहती है। किन्तु इसे वृत्ति नहीं माना गया प्रत्युत् निरोध का परिणाम कहा गया है। संसार में हमें किसी भी वस्तु का (चाहे वह बाह्य जगत का हो अथवा अध्यात्म जगत का) ज्ञान तभी हो सकता है जब हमारा चित्त उसमें समाहित अथवा तद्रूप हो। चित्त के तद्रूप होने का विषय एक तो स्थूल बाह्य पदार्थ होते हैं दूसरे सूक्ष्म इन्द्रियाँ आदि तथा तीसरे आत्मा तथा चित्त का संयोगजन्य अस्मितातत्व। चित्त जितना-जितना निर्मल होता चला जाता है उतनी ही इसमें समाहित होने की योग्यता बढ़ती जाती है परिणामस्वरूप तद्वस्तु के यथार्थ ज्ञान में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार से हम सरल शब्दों में कह सकते हैं कि चित्त का अपना कोई आकार नहीं है। इसको जिस-जिस वस्तु में समाहित कर लिया जाये उसी-उसी वस्तु में चित्त आकारित होता रहता है। जितनी भी विभूति, ऐश्वर्य व चमत्कार संसार में सुनने-देखने को मिलते हैं वे सब चित्त का ही विलास अथवा शुद्ध चित्त का विस्तार है। इस चित्त रूपी महावृक्ष के दो बीज वासना एवम् प्राणस्पन्दन कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वासनाक्षय एवम् प्राणस्पन्दन का निरोध हो जाने पर यह चित्त वृक्ष नाशत्व को प्राप्त हो सकता है। चित्तस्थित वासना अविद्या के कारण ही है। यह अविद्या मन, बुद्धि को आवृत किये रहती है। चित्त की ये वासनायें अपने अनुकूल तथा सहकारी गुण के संनिधि में आने पर बलवान होने लगते हैं तब वे चित्त की अन्तर्भूमि से निकलकर मनोमय एवम्

प्राणमय क्षेत्र पर उतर आते हैं जहाँ पर उसे प्राणस्पन्दन की अनुकूल व अपेक्षित हवा मिल जाती है तथा मन के अनुमोदन से वृत्ति की उदारावस्था बनकर कर्म के रूप में परिणत हो जाते हैं। राग-द्वेष का संबल रहने से पुनः उसकी छाप चित्त पर पड़ जाती है। इसी प्रकार से बीज-वृक्ष न्याय से यह प्रवाह सतत चलता रहता है। वासना भी दो प्रकार के होते हैं। एक मलिन वासना जो मानव को अधोगामी बनाती है तथा दूसरी शुद्ध वासना होती है जो व्यक्ति को ऊपर उठाकर अपने निज स्वरूप तक ले जाती है। चित्त को जहाँ से चेतनता मिलती है उसी तत्व को चिति शक्ति के नाम से कहा जाता है। भगवान व्यास देव ने अपने भाष्य में चिति-शक्ति को अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रम अर्थात् विकार रहित शुद्ध और अनन्त कहा है। भगवान पतञ्जलि जी ने इसे दृशि मात्र (ज्ञान मात्र) होने पर भी प्रत्ययानुपश्य कहा है अर्थात् चित्त की वृत्ति के अनुसार ही देखने वाला कहा है। चिति-शक्ति को चित्त का स्वामी कहा गया है। इसे चित्त की वृत्तियों का सदा ही ज्ञान रहता है क्योंकि वे अपरिणामी है सदा एक रस रहने वाला है। इसमें यही दोष है कि यह चित्त की सन्निधि के कारण सुख-दुःख को अपने में ही मानता है। योगी का उद्देश्य पूर्ण तथा चित्त शुद्धि करना है। इसके सम्पादन हो जाने पर "सत्व पुरुषयो शुद्धि साम्ये कैवल्यम" अर्थात् चित्त एवम् चिति शक्ति के अपने-अपने स्वरूप को पा जाने पर जीव जीवत्व को छोड़कर केवली भाव को पाकर ब्रह्मत्व पा जाता है।

अमृत-बिन्दु

- पारमार्थिक मार्ग में साधक को सांसारिक अनुकूलता (धन, मान, बड़ाई, आदि) तभी तक बाधक प्रतीत होती है, जब तक उसमें सांसारिक सुख की कुछ भी इच्छा या रुचि विद्यमान है।
- साधक ऐसा माने कि मैं जो कुछ करता हूँ, वह भगवान की पूजा है और जो कुछ हो रहा है, वह भगवान की लीला है।
- सब ओर से विमुख होने पर साधक अपने में ही अपने प्रियतम भगवान को पा लेता है।
- दूसरों को सुख पहुँचाने की इच्छा से अपनी सुखेच्छा मिटती है।
- किसी को किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो—यह भाव महान् भजन है।
- मुझे केवल परमात्मा की ओर ही चलना है—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि सम्पूर्ण साधनों की मूलभूत साधना है। परन्तु संसार को स्थिर मानने से ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती।
- राग-द्वेष के कारण ही मनुष्य को कर्तव्य-पालन में परिश्रम या कठिनाई प्रतीत होती है।

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास

एवम्

गीता के उद्‌बोधक योग-योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान

धार्मिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक आदि क्षेत्रों में समरसता के पोषक थे

❀ श्री जयनारायण एम० ए०, बी० एम० एस०, शास्त्री

६/५ श्रमिक बस्ती ताल कटोरा, ताल कटोरा रोड, लखनऊ

महाभारत और गीता के रचयिता महर्षि व्यास हुए। गीता में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के वार्तालाप को छन्दोबद्ध कर उसे विस्तारित और विभाजित करने का श्रेय महर्षि व्यास को प्राप्त हुआ। महर्षि व्यास दो नामों से विख्यात हैं—

(१) कृष्ण द्वैपायन व्यास।

(२) बादरायण व्यास।

भारतीय परम्परा में एक ही व्यास के अनेक नाम माने जाते हैं। कृष्ण उनका व्यक्तिगत नाम है। द्वीप में पैदा होने के कारण द्वैपायन कहलाये और बदरीवन में तपस्या करने के कारण उनकी प्रसिद्धि बादरायण के नाम से हुई। वेद का व्यसन अर्थात् विभाजन करने के कारण वे व्यास के नाम से जाने गये।

व्यास शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—विभाजन और विस्तार। तो कृष्ण द्वैपायन ने वेद को विभाजित भी किया और विस्तारित भी। महाभारत के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उस समय के समाज में लोगों की आस्था धर्म और ईश्वर से उठती जा रही थी। वह भौतिकता के उत्कर्ष का युग था, जब विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। अतएव स्वाभाविक रूप से लोगों की आस्था धर्म पर से हटती जा रही थी। यह तथ्य दुर्योधन, दुःशासन आदि के चरित्र को देखने से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे समय भगवान व्यास ने धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिये आप्राण चेष्टा की। इस दिशा में उनका पहला कार्य हुआ—वेद का चार भागों में विभाजन, पहले वेद कतिपय परिवारों के पास परम्परा से सुरक्षित था। पर वेद का बृहद् भार उठाना एक ही परिवार के लिये बड़ा कष्ट साध्य व्यापार था। इसमें यह भी भय बना रहता था कि यदि वह परिवार एकाएक दुर्घटना ग्रस्त हो गया, तो वेद की परम्परा लुप्त हो जाती। इसलिये व्यासदेव जी ने वेद को विभाजित किया और उसकी एक-एक शाखा अपने एक-एक शिष्य को दे दी। वह एक बड़ा कार्य था, जिसको सम्पन्न करने के कारण वे व्यास कहलाये।

भारत में शास्त्रों में श्रुति और स्मृति ये दो प्रकार की शास्त्र परम्परायें हैं। श्रुति के अन्तर्गत वेद आते हैं और उस युग में वेदाध्ययन का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन नामों से प्रसिद्ध द्विज-मात्र तक सीमित था। शूद्र और स्त्रियों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था। इसका कारण यह बतलाया गया था कि यदि

मुद विद्या मन्द संस्कार सम्पन्न व्यक्ति के पास पहुँचे तो विद्या के शिथिल हो जाने का डर रहता है। इसी कारण सामान्य तौर पर उस युग में स्त्री और शूद्रादि को वेद जैसे गम्भीर विषय के अध्ययन से वञ्चित कर दिया गया।

इस नियम के और जो गुण रहे हों, पर इसका एक सबसे बड़ा दोष यह हुआ कि जनता का एक बहुत बड़ा समुदाय ज्ञान की प्राप्ति से वञ्चित हो गया। यह बात भगवान व्यास के मन में हरदम खटकती रहती थी। वे सच्चे अर्थों में क्रान्तिकारी विचार-धारा के महर्षि थे। पर उनकी क्रान्ति का मार्ग विध्वंसात्मक नहीं था। उन्होंने समन्वय का, बीच का मार्ग निकाला। उन्होंने श्रुतियों, वेदों के गूढ़ तत्वों को सरल बनाकर तथा स्मृति-शास्त्रों की परम्परा को ग्रहण करते हुए महाभारत की रचना की और इसे पंचम वेद से प्रख्यापित किया। गम्भीर विषय सरल एवम् बोधगम्य होने से सामान्य लोगों में ज्ञान का प्रचार-प्रसार अधिकाधिक हो गया। तभी तो महाभारत में लिखा है—

स्त्री, शूद्र, द्विज बन्धूनां,
त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं,
कृपया मुनिना कृतम्॥

अर्थात् स्त्री, शूद्र और विधिपूर्वक उपनयन संस्कार से शून्य ब्राह्मण लोग वेदों को पढ़-सुन नहीं सकते, इसलिये व्यास मुनि ने कृपा कर महाभारत की रचना की है।

महर्षि व्यास सामाजिक एवम् वर्ण-व्यवस्था के प्रति उदार सन्तुलन के पोषक थे। इसी कारण उन्होंने महाभारत और पुराणों की रचना की, ताकि शूद्र एवम् निम्न वर्णों के लोग इन ग्रन्थों को पढ़कर अपने भीतर संस्कार उत्पन्न कर सकें। महर्षि व्यास वेद के अधिकार से शून्य जातियों में भी ज्ञान का प्रसार चाहते थे और उन जातियों के योग्य व्यक्तियों को समाज में उचित स्थान दिलाना चाहते थे। महाभारत की आख्यायिकाओं के माध्यम से उनकी यह महाप्राणता पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। कौशिक ब्राह्मण का एक महिला से शिक्षा प्राप्त करना, फिर उसीका धर्मव्याध नामक कसाई से उपदिष्ट होना, इसी प्रकार जाजलि ऋषि का तुलाधार वैश्य से उपदेश ग्रहण करना—ये सारे उदाहरण भगवान व्यास की गीतायुक्त मानवता को प्रकट करते हैं। तत्कालीन समाज में उनके इस सुप्रयास का फल भी विपुल रूप से प्रकट हुआ। सूत जाति के लोमहर्षण और उग्रश्रवा ने वह सम्मान प्राप्त किया, जो बड़े-बड़े ब्राह्मणों को भी दुर्लभ था।

महर्षि व्यास ने समाज और वर्ण को संगठित करने तथा धर्म और संस्कृति में समन्वय स्थापित करने के लिये तीर्थों, मन्दिरों एवम् व्रतों-उत्सवों का प्रचार-प्रसार किया। इसी कारण पुराणों में भगवद्भक्ति, नाम संकीर्तन, तीर्थ और व्रतोपवास आदि का विस्तृत संग्रह है, जिसमें वर्ण एवम् जाति का भेद किसी प्रकार की रुकावट न डाले। यदि कहा जाय कि वर्तमान हिन्दू समाज में जो कुछ थोड़ा संगठन आज दृष्टिगत हो रहा है वह भगवान व्यास ही की कृपा है तो यह अतिशयोक्ति न होगी।

महर्षि व्यास का योगदान राजनीति क्षेत्र में उल्लेखनीय रहा। प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि वे समय-समय पर ईरान आदि सुदूर देशों में जाते और पुनर्जन्म आदि

धार्मिक सिद्धान्तों को वहां के लोगों को समझाते थे। महाभारत काल में हस्तिनापुर में कुरुवंशियों का राज्य था। जब कुरुवंश सन्तानहीन होने के कारण दुर्दशा को प्राप्त हुआ, तब महर्षि व्यास ही सामने आये और अपने प्रभाव से राज्य की प्रतिष्ठा कायम की। उस समय जरासन्ध आदि राजागण धर्म एवम् संस्कृति के नाश के लिये कमर कसे हुए थे। वे लोग धर्मेश व्यक्तियों का उत्पीड़न करते और धर्म की जड़ों को काटने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते। भगवान व्यास को इन लोगों की कुचेष्टायें अच्छी नहीं लगीं। उन्होंने उन राजाओं के दमन करने की ठानी। वे युधिष्ठिर के पास गये और उन्हें राजसूय यज्ञ करने के लिये उत्साहित किया। उद्देश्य यह था कि दिग्विजय के द्वारा दुष्ट राजाओं को दबा दिया जाय। वे अपने इस संकल्प में सफल हुए। कौरव पाण्डव युद्ध टालने की नीयत से महर्षि व्यास ने धृतराष्ट्र और दुर्योधन को समझाने का प्रयास किया किन्तु इस प्रयास में विफल होने पर उन्होंने पाण्डवों की सहायता करने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर महर्षि व्यास ने वनवास के समय अर्जुन को मन्त्र का उपदेश दिया और तपस्या की विधि बताकर हिमालय तपस्या करने के लिये भेजा। इसीका सुपरिणाम यह हुआ कि अर्जुन को अतुलनीय शक्ति प्राप्त हुई और महाभारत युद्ध में पाण्डव विजयी हुए।

महर्षि व्यास ने कुरुक्षेत्र में कौरवों और पाण्डवों की सेना के मध्य रथारूढ़ सारथी रूप में योग-योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान एवं अर्जुन के सम्वाद को श्रीमद्भगवद्गीता के के रूप में महाभारत में संग्रहीत किया है। इस प्रकार महाभारत गीता की टीका है क्योंकि गीता को महाभारत की आख्यायिकाओं के माध्यम से सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है जबकि गीता वेदों की टीका है, जिसकी रचना वेदों को निःश्वसित करने वाले साक्षात् भगवान करते हैं। वस्तुतः महाभारत काल में ज्ञान काण्ड और कर्मकाण्ड (यज्ञानुष्ठान आदि) के विवाद छिड़ गये थे, जिससे लोगों में यज्ञानुष्ठान आदि की रूढ़िवादिता उत्पन्न हो गई थी। श्रेय और प्रेय की ये दो विचारधारायें आपस में जोरों से टकराती रहीं। होना तो यह था कि ये दोनों विचारधारायें परस्पर समन्वित होकर मनुष्य को ऊपर उठातीं, पर इसके स्थान पर दोनों में लड़ाई ठन जाती थी। वेदों के अर्थ में खींचतान की जाती थी। तब, 'यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्'—जिस भगवान ने वेदों को निःश्वसित किया और वेदों के आधार पर अखिल जगत की रचना की, वे इस खींचतान को सहने में असमर्थ होकर मनुष्य रूप में अवतीर्ण होते हैं। जब वे देखते हैं कि वेदों के अर्थ का अनर्थ हो रहा है, तब वे आते हैं अनर्थ को दूर करने के लिये और अर्थ को प्रतिष्ठित करने के लिये। वे आते हैं कृष्ण के रूप में और गीता के माध्यम से वेदों के मर्म का गायन करके चले जाते हैं। अन्य लोग तो वेदों पर भाष्य लिखते हैं, पर भगवान को भाष्य नहीं लिखना पड़ा, वे तो गायन करते हैं। लेखन में प्रयास होता है, और गायन में अनुभूति का उच्छ्वास। गीता भगवान कृष्ण की अनुभूति का उच्छ्वास है। वेदों पर अनेक भाष्य और टीकायें मिलती हैं किन्तु गीता वेदों की सर्वोत्तम टीका है।

भगवान् कृष्ण युगाचार्य थे। जो युगाचार्य

होते हैं, वे युग की मान्यता के अनुकूल एक नया मार्ग और एक नया उपाय सामान्य लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रकार योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान यज्ञ का नया रूप बताते हुए अर्जुन से कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र
लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय
मुक्तसङ्गः समाचर॥
(गीता ३/९)

"अर्थात् हे कौन्तेय! यज्ञ के अभिप्राय और भावना के बिना जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी बन्धन कारक होते हैं। इसलिये तू जो भी कर्म करेगा, उसे यज्ञ की भावना से कर और इस प्रकार आसक्ति रहित हो आचरण करो।" यज्ञ की भावना से कर्म करने का क्या तात्पर्य है? भगवत्समर्पित बुद्धि से कर्म करना।

वस्तुतः महाभारत काल में यज्ञानुष्ठान बहुत ही खर्चीला और कष्टकर था। योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान ने यज्ञ को निष्काम कर्म के रूप में जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया। इसी प्रकार योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान—'योगः कर्मसु कौशलम्' एवं 'समत्वं योग उच्यते' 'ब्रह्मणि आधाय कर्माणि संग, त्यक्त्वा करोति यः'। —ब्रह्म को आश्रय और आधार मानकर अपने कार्यों को सम्पन्न करने से बुद्धि सन्तुलित बनी रहने, भगवत्समर्पित बुद्धि से स्वधर्म का अनुष्ठान करने का उपदेश अर्जुन के माध्यम से जन-सामान्य को देते हैं और वैराग्य भाव धारण कर आभ्यन्तरिक मोह को नष्ट करने का उपाय बताते हैं।

गीता में श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद ७०० श्लोकों में निहित है। यदि इसे सस्वर पाठ किया जाय तो कम से कम डेढ़ घण्टे का समय लगेगा। इतना समय छन्दोबद्ध रूप से योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान एवं अर्जुन के बीच सम्वाद युद्ध क्षेत्र में होना सम्भव प्रतीत नहीं होता है। अवश्य ही योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन को अल्पकाल में समझाकर युद्ध के लिये राजी कर लिये हों। इससे स्पष्ट है कि महर्षि व्यास जी ने छन्दों में श्लोकबद्ध गीता की रचना की और महाभारत में गीता के १८ अध्यायों को समावेशित किया। महर्षि वेदव्यास ने श्रीकृष्ण भगवान की वाणी को भी इस भगवद्गीता में स्मृति का रूप ही प्रदान किया, जिससे उसका लाभ सर्वसामान्य जनता को मिल सके। यही कारण है कि जहाँ-जहाँ उपनिषदों के श्लोक आये हैं, वहाँ-वहाँ महर्षि व्यास ने उन श्लोकों को किञ्चित परिवर्तित कर दिया है, जिससे उनका श्रुति रूप कायम न रह सके और वेद अनधिकारी को भी लाभ मिल सके। गीता के अध्याय के अन्त में "ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे..........।" गीता के अध्यायों की पुष्पिका सर्वप्रथम उस ईशन करने वाले ईश्वर के अस्तित्व की घोषणा करती है। फिर उसके बाद 'श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् में। यहाँ पर गीता को उपनिषद् कहा। फिर उसके बाद पुष्पिका में कहा कि गीता 'ब्रह्म विद्या और योगशास्त्र भी।'

इस प्रकार गीता अध्यात्म और व्यवहार, शास्त्र और कला दोनों का अत्युत्तम मेल करती है। योग की दो सुन्दर परिभाषायें गीता में द्रष्टव्य हैं। एक परिभाषा यदि ज्ञान परक है, अध्यात्म परक, शास्त्र परक है, तो दूसरी परिभाषा कर्म परक है, व्यवहार परक है, कलापरक है। एक में कहा गया है—"समत्वं योग उच्यते।" (गीता २/४८) तो दूसरे में कहा गया—"योगः कर्मसु कौशलम्।"

★

जीवन में योग का महत्व

❀ श्री अतनीश कुमार भटनागर (सहारनपुर)

सिद्ध मार्ग के परिचितों के अतिरिक्त अधिकांश मनुष्य योग के शाब्दिक अर्थ व व्यवहारिक ज्ञान से अनभिज्ञ ही हैं और यदि कुछ लोग जानते भी हैं तो वह भी योग के केवल दो या तीन अङ्गों के बारे में ही आधा-अधूरा ज्ञान ही रखते हैं, बहुत ही कम लोग योग के बारे में प्रमाणिक व पूर्ण जानकारी रखते हैं। इसी सनातन ब्रह्म विद्या योग के विषय में दो शब्द प्रस्तुत हैं।

योग शब्द का सीधा-सा अर्थ जोड़ना है और शास्त्रीय मतानुसार योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः को ही योग कहा गया है। शाब्दिक संरचना में जितने शब्द योग शब्द की समाप्ति करके निर्माण किये गये उतने शायद ही किसी अन्य शब्द को लेकर किये गये हों। अपने जीवन में हम कितने ही ऐसे शब्दों को नित्य व्यवहार में लाते हैं उनमें से कुछ ही शब्दों का संकेत यहाँ पर देता हूँ। जब हम किसी भी वस्तु को काम में लाते हैं तो कहते हैं कि हमने अमुक वस्तु का "उपयोग" किया या "प्रयोग" किया और जब कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सहायता करता है, तो कहते हैं कि "सहयोग" किया या अमुक व्यक्ति ने "योगदान" किया और जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का सही इस्तेमाल नहीं करता है तो उसके पहिचान वाले कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने अमुक वस्तु का "दुरुपयोग" किया, यह एक अकाट्य सत्य है कि यदि प्रकृति (स्त्री) व पुरुष का "योग" संयोग न हो तो इस सृष्टि का विस्तार कार्य ही रुक जाये। मैं यह कहना चाहूँगा कि मनुष्य अपने लौकिक एवम् पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में "योग" को नहीं अपनायेगा तो उसे लौकिक जीवन में तो अभाव रहेगा ही तथा पारलौकिक परब्रह्म सत्ता से भी "वियोग" ही बना रहेगा।

अब तक तो योग के शाब्दिक ज्ञान की बात होती रही पर अब देखिए योग के व्यवहारिक ज्ञान की बात। योग के अन्तर्गत आठ अङ्गों को ईश्वरीय सत्ता द्वारा बताया गया है जो इस प्रकार है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग के प्रथम दो अङ्ग जैनमत व बौद्धमत की रीढ़ हैं। इन्हीं दोनों अङ्गों पर दोनों सम्प्रदायों की शिक्षायें आधारित हैं। योग का तीसरा अङ्ग आसन है। अधिकांश लोग केवल इसी को ही योग समझते हैं जब कि यह तो योग का मात्र तीसरा ही अङ्ग है। आसन का शास्त्रीय प्रमाण है स्थिर सुख आसनम् अर्थात् व्यक्ति जिस स्थिति में सुख पूर्वक स्थिर चित्त से लम्बे समय तक बैठ सके वही आसन है। आसनों का एक बड़ा लाभ यह भी है कि रोगों को पास न आने देना और यदि आ भी गया तो उसे दूर करने

में भी सक्षम है। अब अध्यात्म मार्ग में ऐसे ही सक्षम साधन की आवश्यकता होती है जिससे लम्बे समय तक विघ्न रहित ईश्वर चिन्तन चलता रहे। जैसे अन्य बाधायें साधना मार्ग में अन्तराय पैदा करती हैं वैसे ही रोग भी साधना में अन्तराय पैदा करता है। अब योग के चौथे व पाँचवें अङ्ग प्राणायाम व प्रत्याहार हैं जो बहिरङ्ग योग से अन्तरङ्ग योग में पदार्पण करने में सेतु का कार्य करते हैं। प्राणायाम का अर्थ है प्राण+आयाम अर्थात् प्राणों को रोकना, इसमें आगे अनेक प्रकार के प्राणायाम हैं जिनकी साधना करके साधक कालजयी बन जाता है, प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेता है। प्राणायाम व प्रत्याहार के सेतु को पार करके धारणा के सुदृढ़ मार्ग द्वारा ध्यान व समाधि के मन्दिर में बैठकर साधक आत्मतत्व का साक्षात्कार करके स्वयं को जानने का प्रयत्न करता है। फिर साधक परब्रह्म तत्व का साक्षात्कार करता है जो केवल योग के द्वारा ही सम्भव है।

आनन्दकन्द योगेश्वर श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज ने योग का सन्देश अपने श्रीमुख द्वारा प्रादुर्भूत अमर योगशास्त्र श्रीमद्-भगवद्गीता द्वारा जनमानस को दिया है। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र जी ने श्री गीता जी का योगोपदेश द्वापुर के अन्त में मात्र अर्जुन को ही नहीं बल्कि कलिकाल में कलिमल से त्रस्त प्राणीमात्र के लिये दिया है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी के जीवन में हम योग का प्रभाव भली प्रकार देख सकते हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि अष्ट योग सिद्धियों का योग ऐश्वर्य भगवान श्रीकृष्ण को जन्म से ही प्राप्त था। इसलिये उन्हें अनेक नामों के साथ-साथ योगयोगेश्वर भी कहा गया। भगवान श्री रामचन्द्र जी के जीवन में योग का क्या महत्व रहा, यह योग वाशिष्ठ पढ़कर भली प्रकार ज्ञात हो सकता है। केवल विस्तार भय से इसका वर्णन न करना ही ठीक रहेगा।

आगे लव कुश को महर्षि श्री बाल्मीकि जी द्वारा योग दीक्षा देना व शक्तिपात करके कुण्डलनी महाशक्ति जगाना यह सब योग के द्वारा ही सम्भव हुआ। भगवान शिव स्वयं योग के सर्वोच्च साधन "समाधि" को अपनाये हुए हैं। वह हजारों वर्षों तक समाधि में लीन रहते हैं। इसलिये उन्हें "योगीश्वर" की संज्ञा दी गई। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी का प्राकट्य अन्य समस्याओं के निवारण के लिये तो हुआ ही था परन्तु एक मुख्य व सबसे बड़ा कार्य करने के लिये भी हुआ था, वह था योग का प्रकाश जगत को देना जिसके अन्तर्गत परमयोगेश्वर ने अपने श्री मुखारविन्द से दिव्य योगशास्त्र श्री गीता जी को प्रकट किया था। यह सब द्वापर के अन्त में घटित हुआ ताकि कलियुग का आगमन हो जाने पर भी जीव अपने आत्म कल्याण के मार्ग को श्री गीता जी में से खोजकर परम दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त कर सके क्योंकि जीव का परम लक्ष्य मात्र मोक्ष को प्राप्त करना ही है। सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त कर उनका उपभोग करना जीव का लक्ष्य नहीं है। अब यह कोई तर्क का विषय नहीं है कि जीव का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना कैसे हो सकता है। और यदि है तो सृष्टि का विस्तार कैसे होगा क्योंकि दोनों एक-दूसरे के विपरीत बातें हैं। ऐसी बात नहीं है एक सांसारिक व्यक्ति भी मोक्ष प्राप्ति का साधन अपनाकर प्रयास कर सकता है। यह एक निश्चित बात है कि "इस

जन्म में अपनाया गया मोक्ष प्राप्ति का साधन जन्मजन्मान्तर में मोक्ष प्राप्ति का कारण बन जायेगा।" यदि हम आज ही से अष्टांग योग के प्रथम दो भागों यम व नियमों का पालन करना प्रारम्भ कर दें तो समाज में व्याप्त व्यभिचार, भ्रष्टाचार, अनाचार आदि समस्त बुराइयाँ स्वतः ही नष्ट हो जायेंगी और योग के आगे के अङ्गों का पालन जैसे जैसे जीव करता जायेगा, वैसे-वैसे धारणा (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा) के मार्ग को पुष्ट करते हुए ध्यान व समाधि के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग भी खुल जायेगा। इसलिये महायोगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी ने योगी को सबसे श्रेष्ठ बताया है और अपने प्रिय सखा व शिष्य को योगी बनने का स्पष्ट आदेश गीता में दिया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन।

(गीता ६/४६)

(क्योंकि योगी तपस्वियों में श्रेष्ठ है, और शास्त्रों के ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसीलिये हे अर्जुन! तू योगी बन। और एक ध्यान योगी के विषय में कहा गया है कि जहाँ पर एक ध्यान योगी निवास करता है वह पूरा देश ही पवित्र हो जाता है। उस योगी के सम्पर्क में रहने वाले बन्धु-बान्धवों का तो कहना ही क्या।

यस्मिन देशेवसेद्योगी,
ध्यान योग विचक्षणः।
सोऽपि देशो भवेत पूतकिम,
पुनस्तस्य बान्धवः॥

ऐसी है योगी की महिमा जिसका पूरा-पूरा प्रमाण शास्त्रों में मिलता है।

ऊपर वर्णित योग के सभी साधन योग के द्वारा पूर्णता को प्राप्त श्री गुरुदेव द्वारा ही सहजता से प्राप्त हो सकते हैं। वर्तमान समय में योग्य गुरु की पहिचान करना बड़ी विकट समस्या है। क्योंकि गुरुओं की आज बड़ी भीड़ दिखलाई देती है किसे गुरु बनायें किसे नहीं। इसी मनोइच्छा को लेकर अध्यात्म की दुकानों में जाकर फँस जाते हैं जहाँ उनका खूब शोषण होता है। फिर वह स्वयं व उसके परिचित आदि जन यह कहते मिलते हैं कि यह तो सब लूट-खसोट के धन्धे हैं। जबकि सत्य बात तो यह है कि योग्य एवं परिपूर्ण सद्गुरुदेव अपनी जन्मजन्मान्तरों की संस्कारी आत्माओं को स्वयं खोजते घूमते हैं। और जहाँ श्री गुरुदेव व शिष्य का संयोग हो जाता है वहीं बिना दाम, बिना नाम, बिना कान अहैतुकी कृपायें, शक्ति-सम्पन्न गुरुदेव बरबस कर देते हैं। श्री गुरुदेव के विषय में श्री शिवपुराण में सैकड़ों बार वर्णन आया है और यह बताया गया है कि "जो गुरु है वह शिव कहा गया है और जो शिव है वह गुरु माना गया है। विद्या के आकार में शिव ही गुरु बनकर विराजमान हैं। जैसे शिव हैं वैसी विद्या है। जैसी विद्या है वैसे गुरु हैं। शिव विद्या गुरु के पूजन से समान फल मिलता है। शिव सर्वदेवात्मक हैं और गुरु सर्व मन्त्रमय हैं। (शि० म० पु० वा० वी० संहिता) और श्री गुरु गीता में तो यहाँ तक वर्णन है कि नास्ति तत्वं गुरु परम्। श्री गुरुदेव से बड़ा कोई तत्व नहीं है और साथ ही यह भी बताया गया है कि शिष्य सन्ताप हारस्य सः

गुरु। जो गुरु अपने शिष्यों के सन्तापों को हरण करने की शक्ति रखता है वह गुरु है। योगानुसार भगवान पतञ्जलि जी महाराज द्वारा रचित योगदर्शन के सद्विचार देना यहाँ अति आवश्यक है—"गुरु कालेनान अवेच्छेदात" अर्थात् परिपूर्ण सिद्धयोगी सद्-गुरु स्वेच्छा से तो अपने शरीर का त्याग कर सकते हैं परन्तु काल उन पर अपना प्रभाव दिखलाकर प्राण हरण नहीं कर सकता। ऐसे वास्तविक श्री गुरुदेव की वन्दना परम सन्त श्री तुलसीदास जी ने अपनी अमर कृति श्री रामचरित मानस में अनेकों स्थानों पर की है जैसे—

बन्दऊ गुरु पद पदम परागा।
सहस सुवास सरस अनुरागा॥

और

गुरु पद नख मणि गण ज्योती।
सुमरत दिव्यदृष्टि हिय होती॥

और आगे

गुरु बिनु भव निधि तरै न कोई।
जो विरञ्चि शंकर सम होई॥

श्री तुलसीदास जी का यह संकेत यह बतलाता है कि पुरुष व परम पुरुष को भी श्री गुरुदेव की जीवन में कितनी आवश्यकता है।

सद्गुरुदेव करुणा-निधान, महायोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी ऐसे ही सर्वशक्ति सम्पन्न सद्गुरु हैं जिनके स्वरूपों का वन्दन, पूजन करने से ही ध्यान, दर्शन व सांसारिक ऐश्वर्य सुलभ हो जाता है और साधक आध्यात्मिक उन्नति बरबस ही पाने लगता है। अपने पास इसके हाल ही में घट रहे अनेकों उदा-हरण विद्यमान हैं। जिन साधकों ने अपने जीवन में श्री चन्द्रमोहन जी महाप्रभुजी को कभी देखा भी नहीं, वे केवल आदि सिद्ध सद्गुरु भगवान श्री रामलाल जी व श्री चन्द्रमोहन जी महाप्रभुजी के स्वरूपों की पूजा-सेवा से दर्शन, वरदान व कृपायें पा रहे हैं।

अब एक बात पर और संकेत करने को मन बार-बार कर रहा है कि जिनको वास्तव में गुरुदेव कहा जाता है वह किस पुण्य प्रताप से प्राप्त होते हैं। क्योंकि हमें जितने भी सुख व दुख प्राप्त होते हैं वह सब पूर्व संचित अच्छे या बुरे कर्म संस्कारों के फलस्वरूप ही प्राप्त होते हैं। यही सना-तन धर्म की मान्यता है। श्री गुरुदेव तप के द्वारा संचित पुण्य फल के द्वारा मिलते हैं। तब श्री गुरुदेव का पात्रता के अनुरूप ही अनुग्रह होता है। और तप का शास्त्रीय प्रमाण है "द्वन्द्व सहनं तपः"। गर्मी-सर्दी व भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए ब्रह्म-चिन्तन करना ही तप कहा गया है। भगवती श्री पार्वती जी भी तब तक परम शिव को पति रूप में प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकी थीं जब तक उन्होंने अपने श्री गुरुदेव योगिराज नारद जी द्वारा दी गई योग-दीक्षा व गुरु मार्ग यानी तपमार्ग का अनुसरण नहीं किया (शिव पुराण)। भगवती श्री पार्वती जी ने कितना दुष्कर तप किया इसका हम अन्दाज भी नहीं लगा सकते। भगवान श्री ब्रह्मा भी सृष्टि रचना करने योग्य नहीं हुए। जब तक उन्होंने हजारों साल वन में कठोर तप नहीं कर लिया

(शेष पृष्ठ ३५ पर)

गुरु भक्ति एवं योग

❁ श्री पूर्णचन्द्र पन्त

इस संसार में योग ही एक ऐसी विद्या है जिसे अपनाकर मानव शरीरधारी जीव जन्म-जन्मान्तर से बने आ रहे कर्माशय को नष्ट करके पाप-पुण्य से मुक्त होकर अपने वास्तविक सच्चिदानन्दमय आत्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यही मनुष्य जीवन की सार्थकता एवं जीव का चरम पुरुषार्थ है। बिना योग मार्ग को अपनाये मनुष्य संसार चक्र से छूट नहीं सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। योग के आदि प्रवर्तक अखिल लोकनायक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में योगसिद्धि रूप तत्वज्ञान को पवित्रतम, गुह्यतम एवं मोक्षदाता बतलाते हुए उसकी प्राप्ति के दो मुख्य उपाय बतलाये हैं—

(१) साधना एवं (२) सिद्ध कृपा।

यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए श्रद्धा एवं उत्साहपूर्वक दीर्घकाल तक किया जाने वाला अभ्यास ही 'साधना' अथवा 'साधना योग' कहलाता है।

दूसरा उपाय है—"गुरु कृपा"। इस सम्बन्ध में प्राणीमात्र की आत्मा परमयोगी श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन के माध्यम से योग के जिज्ञासु साधकों के लिये एक सरल तथा श्रेष्ठ मार्ग प्रशस्त किया है। जैसे—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४/३४)

हे अर्जुन! तू तत्वदर्शी महापुरुषों की शरण में जाकर उनसे आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त कर। उनको श्रद्धापूर्वक दण्डवत् प्रणाम करने से, भक्तिपूर्वक सेवा करने से तथा निष्कपट भाव से जिज्ञासा प्रकट करने पर तत्वज्ञान को भलीभाँति जानने वाले वे ज्ञानी महापुरुष तुम्हें तत्वज्ञान का उपदेश कर देंगे। जिससे तुम्हें परमेश्वर की प्राप्ति हो जायेगी।

(पृष्ठ ३४ से आगे)

(भागवत) कोई भी देव, दानव, नर लौकिक या अलौकिक वस्तु तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक उसने दुष्कर तप नहीं कर कर लिया। प्रमाण के लिए धर्मग्रन्थ उपलब्ध हैं। फिर हम महा तामसी कलियुगी जीवों का उद्धार बिना प्रयास के कैसे हो सकता है।

विस्तार भय निरन्तर मुझे घेरे रहा इसलिये उपरोक्त समस्त बातों पर अति संक्षिप्तता हावी रही, कुछ बातों की ओर तो मात्र संकेत ही कर सका। सिद्धयोग के विज्ञ लेखक एवम् विज्ञ पाठकगणों के बीच मुझ अनभिज्ञ का योग जैसे जटिल व गूढ़ विषय पर कुछ लिखना वास्तव में तो न के बराबर ही रहा फिर भी योग जिज्ञासु बन्धु लाभान्वित हों, मेरा अभिप्राय मात्र यही है। इति शुभम्! ★

कठोपनिषद् में परम जिज्ञासु बालक नचिकेता को योग विद्या का रहस्य समझाते हुए धर्मराज ने मानव मात्र को चेतावनी देते हुए कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्नि बोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

अरे मनुष्यो ! तुम लोग प्रमादवश चिरकाल से अज्ञान रूपी निद्रा में सोये हुए हो। अब भी समय है, उठो, जागो और तत्त्वदर्शी सन्तों की शरण में आकर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करके उन्हीं से ही इस आत्मतत्त्व (योग विद्या) को सीखो। क्योंकि बिना गुरु के योग मार्ग पर चलना तलवार की तेज धार पर चलने के समान कठिन है। ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने अनुभव के आधार पर बतलाया करते हैं।

योगमार्ग के पथिक को कदम-कदम पर गुरुकृपा की आवश्यकता रहती है। बिना गुरु के वह योग सिद्धि रूप अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने मनुष्य शरीर को भवसागर पार करने के लिये एक सुदृढ़ नौका बताया है। ईश्वरानुग्रह को अनुकूल वायु तथा गुरुदेव को कुशल मल्लाह बताया है। जैसे—

नर तनु भववारिधि कहँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥

जो नर तरै भाव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मन्द मति, आत्महा गति जाइ ॥

श्रीमद्भागवत पुराण में भी यही बात निम्नलिखित श्लोकों में कही गई है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितम्, पुमान भवाब्धि न तरेत्स आत्महा ॥

पहले तो मनुष्य शरीर ही दुर्लभ है। उसकी किसी प्रकार से प्राप्ति हो गई, ईश्वर कृपा से साधना के लिये अनुकूल वातावरण मिल गया और ईश्वर कृपा से ही कर्णधार सद्गुरु भी मिल गये। ऐसा सुयोग मिल जाने पर भी जो अभागा भवसागर को पार करने के लिए प्रयत्न नहीं करता वह आत्मघाती है। अर्थात् अपने आत्मा को अधोगति में ले जा रहा है। मरणोपरान्त उसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियों में ही जन्म लेना पड़ेगा।

बुद्धिमत्ता तो इसी में है कि मनुष्य इस स्वर्णिम अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाये। एक क्षण भी व्यर्थ न खोये और तत्परता से योगसाधना में जुटकर अपने देवदुर्लभ मानव जीवन को सार्थक बना ले। किन्तु गुरुकृपा के बिना भी साधक का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो पाता। अतः उसे गुरुचरणों का आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि—

गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जो बिरञ्चि शंकर सम होई ॥

चाहे कोई किसी भी क्षेत्र का विद्यार्थी क्यों न हो उसे अपनी साधना रूप पुरुषार्थ के साथ-साथ विनम्रतापूर्वक अपने गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए उनका आशीर्वाद प्राप्त करना पड़ता है, तभी उसे अपनी साधना में वाञ्छित सफलता मिलती है। फिर

आध्यात्म विद्या तो है ही गुरुगम्य। उसकी प्राप्ति के लिये गुरुभक्ति की नितान्त अपेक्षा रहती है।

गुरुभक्ति अष्टाङ्ग योग का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। नवधा भक्ति में गुरुभक्ति को विशेष महत्व दिया गया है।

गुरुदेव के चरण-कमलों में विनीत भाव से बैठकर उनके वचनामृत का पान करना, निराभिमान होकर श्री गुरु-चरणों की सेवा करना, उनकी प्रत्येक आज्ञा का उत्साह पूर्वक पालन करना, गुरुदेव के समक्ष असत्य भाषण या किसी प्रकार का छल-प्रपञ्च नहीं करना, गुरु प्रदत्त मन्त्र का अधिकाधिक जाप करना, गुरु मन्त्र में अक्षर बुद्धि एवं गुरुदेव में मनुष्य बुद्धि नहीं रखना, दूर रहते हुए भी हमेशा गुरुदेव का सामीप्य अनुभव करते रहना तथा अभिमान रहित एवम् श्रद्धापूर्वक गुरुदेव को लौकिक रीति से उनकी प्रिय वस्तुएं समर्पित करना आदि सभी बातें गुरुभक्ति में सम्मिलित हैं। भक्ति में समर्पण का होना बहुत जरूरी है।

आज श्री गुरुदेव का पञ्च भौतिक शरीर यद्यपि हमारे सामने नहीं है, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे कहीं चले गये हैं। वे तो सूक्ष्म शरीर से अपने हर बच्चे के साथ आज भी उसी प्रकार रह रहे हैं जैसे वे पहले रहे थे। गुरु सत्ता तो अखण्ड मण्डलाकार रूप से सृष्टि के कण-कण में व्यापक है फिर वह उनके भक्तों और शिष्यों से दूर कैसे रह सकती है? वह एक ऐसी सत्ता है जिसका किसी भी काल में न तो लोप ही होता है और न उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन ही आता है।

आवश्यकता इस बात की है कि साधक अपने अन्दर श्रद्धा और विश्वास में कमी न आने दें।

गुरुदेव का स्थूल शरीर तिरोहित हो जाने पर गुरुभक्त शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह जीवन भर उसी प्रकार का आचरण करता रहे जैसी उसके गुरुदेव स्थूल शरीर से उसे आज्ञा देते रहे हैं और वैसा ही बनने का प्रयास करता रहे जैसा वे उससे अपेक्षा रखते थे।

गुरुभक्त साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना सर्वस्व गुरुदेव के चरणों में न्यौछावर करके निष्काम भाव से एवम् निरभिमान होकर साधना में तत्पर रहे, गुरुदेव स्वयं में ही एक रहस्य हैं। अतः उनकी प्रत्येक लीला एवम् वचनों में गूढ़ रहस्य छिपा रहता है। शिष्य को उनके मुखारविन्द से निसृत प्रत्येक शब्द पर मनन करना चाहिए तथा उनकी हर आज्ञा का सोत्साह पालन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके मन में प्रतिक्षण यह भाव बने रहने चाहिए कि—मेरे स्वामी ब्रह्माण्ड भर के स्वामी हैं मेरे गुरु तीनों लोकों के गुरु हैं एवम् मेरी आत्मा समस्त प्राणियों की आत्मा है।

सद्गुरु की रहस्यमयी सत्ता से परिचित न होने के कारण अधिकांश लोगों को इस विषय में तरह-तरह की भ्रान्तियां रहा करती हैं। वे गुरु को अपने समान एक साधारण मनुष्य समझते हैं। उन लोगों को सकल चराचर जगत के स्वामी, प्राणीमात्र की आत्मा योग-योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी की इस चेतावनी की ओर ध्यान देना चाहिये—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम् ।। (गीता ९/११)

अर्थात् मेरी सर्वव्यापकता एवम् सर्वशक्तिमत्ता रूप परम भाव को न जानने वाले अज्ञानी लोग सम्पूर्ण प्राणियों के महान् ईश्वर तथा योगमाया से संसार में मनुष्य रूप से विचरते हुए मुझ परमेश्वर को एक साधारण मनुष्य समझते हैं।

गुरुदेव का वास्तविक स्वरूप भी गुरु गीता के निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट किया गया है—

गकारं च गुणातीतं रुकारं रूप वर्जितम् ।
गुणातीतमरूपं च यो स्यात्स गुरुः स्मृतः ॥

अर्थात् गुकार का अर्थ सत्व-रज-तम रूप तीनों गुणों से अतीत होना है और "रु" का अर्थ रूप से रहित होना है। अतः गुणों की सीमा के आगे एवम् रूप रहित जो परमेश्वर की परम सत्ता है वही सद्गुरु कहलाता है। यही कारण है कि षट्चक्रों की साधना में गुरुदेव का स्थान छठा चक्र (आज्ञाचक्र) बताया गया है। क्योंकि विशुद्ध चक्र तक पञ्च महाभूतों की स्थिति है। अतः सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों का प्रभाव रहता है, किन्तु गुणातीत होने के कारण गुरुसत्ता पंचमहाभूतों की सीमा एवम् गुणों के प्रभाव क्षेत्र से आगे है।

गुरु-कृपा

गुरु-कृपा पतित-पावनी गङ्गा की पावन एवम् निर्मल जलधारा की तरह अजस्र बहती रहती है जिसे गुरुभक्त शिष्य ही अनुभव कर पाता है।

साधक को शिष्य रूप में अपनाकर उसे मोक्षप्रद मन्त्र प्रदान करना गुरुकृपा का पहला रूप है। क्योंकि गुरुमन्त्र गुरु का ही स्वरूप होता है। गुरुदेव उस मन्त्र के माध्यम से शिष्य के अन्दर शक्ति संचार करके उसका कल्याण करते हैं। गुरुमन्त्र को एक अमूल्य निधि समझना चाहिये। इस सम्बन्ध में योगिनी मीराबाई का कहना है—

वस्तु अमोलक दी मेरे सद्गुरु, करि किरपा अपणायो।
पायो री मैं तो, राम-रतन धन पायो॥

गुरु के प्रति मन में भक्ति भावना भी उनकी कृपा से ही जाग्रत होती है। इसे तो गुरुदेव की अनुपम एवम् चरम कृपा समझना चाहिये, क्योंकि भक्ति से बढ़कर और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। गुरुदेव निम्नलिखित प्रकार से अपने शिष्यों पर कृपायें करते रहते हैं—

(१) शिष्य को उसकी अन्तर्निधि की झलक दिखाकर उसे साधना में प्रवृत्त करना तथा संसार से विरक्त करना।
(२) स्वप्न में या ध्यान में उपदेश देना एवम् दिव्य लोकों के दर्शन कराना।
(३) शिष्य के मन में प्रेरणा करके उससे पुण्य कृत्य करवाना।
(४) शिष्य का मनोबल बढ़ाना और उसके अन्दर दैवी-सम्पदा की अभिवृद्धि करना।
(५) शिष्य को उन सभी प्रभावों एवम् आकर्षणों से बचाना जो उसकी साधना में बाधक हों।
(६) शिष्य की लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

(७) शिष्य के क्लिष्ट संस्कारों का सूक्ष्म रूप से भुगतान कराना, कई जन्मों के कर्मभोगों का वर्तमान जीवन में ही भुगतान करा देना एवम् जन्म-जन्मान्तर के कर्माशय रूप वासना-बीज को दग्ध करके उसे मोक्ष का अधिकारी बनाना।

(८) लौकिक जगत में शिष्य की मान-मर्यादा की रक्षा करना एवम् उसे हर प्रकार के अनिष्टों से बचाना।

इस प्रकार गुरुदेव प्रच्छन्न रूप से अपने बालकों पर कृपा किया करते हैं।

सद्गुरु दया के सागर होते हैं। उनके लिये कोई अपना या पराया नहीं होता। चाहे कोई उन्हें भजे या न भजे, साधक यदि सुपात्र हो उनकी कृपा-वृष्टि होते देर नहीं लगती। फिर भी जो साधक उन्हें अनन्य भाव से भजता है उसे वे अपना स्वरूप ही समझते हैं। जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने गुरुदेव के इस उदार स्वभाव का निम्नांकित श्लोक में संकेत किया है—

समोऽहं सर्व भूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां नित्यं मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मैं समस्त प्राणियों में समान भाव रखता हूँ। न किसी से द्वेष रखता हूँ और न किसी से विशेष प्रेम ही करता हूँ, किन्तु जो पुण्यात्मा नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करते रहते हैं वे मुझमें वास करते हैं और मैं उनके अन्दर निवास करता हूँ। अर्थात् वे मेरी आत्मा ही हैं।

लोक में भी प्रायः यह बात देखने में आती है कि यदि दूर स्थित कोई व्यक्ति हमें बार-बार याद करता है तो हमें भी उसका स्मरण स्वतः ही हो उठता है और जिस भावना को लेकर वह व्यक्ति हमें याद करता है वही भावना हमारे मन में उसके प्रति प्रकट होने लगती है। जहाँ साधारण सांसारिक मनुष्य का मन दूसरों के मनोभावों से प्रभावित हो सकता है वहाँ सिद्धगुरुओं की सर्वज्ञता का तो कहना ही क्या है।

गुरु-कृपा छाया की भाँति श्रद्धालु शिष्य के साथ हमेशा रहा करती है। गुरुदेव अपने भक्त के मन की प्रत्येक बात को एवम् उसकी परेशानी को हजारों मील दूर रहते हुए भी तत्काल जान लेते हैं और उसका उचित समाधान कर देते हैं।

योग-साधना में आने वाली सब प्रकार की विघ्न-बाधायें श्री गुरु कृपा से तत्काल तिरोहित हो जाती हैं। अतः कल्याणकामी व्यक्ति को चाहिये कि स्वयं को सर्वतोभावेन श्री गुरुदेव के चरण-कमलों में समर्पित कर दे। कि बहुना—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति पूजामूलं गुरोर्पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोर्कृपा॥

पद

✽ पं० रामप्रकाश अनुरागी (ग्वालियर)

[एक]

साँचेहु अन्तर्यामी,
हमारे प्रभु रामलाल स्वामी।
जो सोचूँ सो पूरा कर दें, अवढर दानी स्वामी।
पल-पल मोय सँवारें तारें, बचे न एकहु खामी॥
ले त्रिशूल त्रय ताप भगावें, मेंटि देंई बदनामी।
वरद हस्त से शक्तिपात कर, दूर करें नाकामी॥
योग-पोत को सहज सम्हालें, पूर्ण ब्रह्म अविरामी।
हम सब की प्रभु लाज राखियो, हम जीवन संग्रामी॥

[दो]

करुणा बारम्बार करी,
बार-बार हम शरणागत भये, बार-बार शबरी।
हम हर बार रहे अपराधी, प्रभु हर बार हरी॥
ज्ञान नहीं जप-ध्यान नहीं कछु, तो हू विपति हरी।
करुणामय की करुण कृपा से, भारी तरी तरी॥
धन्य-धन्य है कृपा तिहारी, मो पै घर-घरी।
हम पै कृपा बनाये रहियो, ऐसी हरी भरी॥

[तीन]

चरण-रज बड़ी चमत्कारी,
चरण छुई चुटकी भर हरती, विपदायें सारी।
ज्ञान-ध्यान-जाप-योग से परे, है भव-भयहारी॥
निराकार साकार दिखाती, दिव्य दृष्टिधारी।
श्रद्धा-भक्ति-श्रेन को पाती, जैसे महतारी॥
करुणामय की कृपा स्वरूपा, अनुपम गुणकारी।
सिद्धगुफा की, सिद्ध चरण-रज, है प्रसिद्ध भारी॥

— माता-पिता की सेवा —

जिस माता ने अपने हृदय के रक्त से प्रयत्न करके शरीर को पाला, उस माता का सम्मान प्रेम और भक्ति से करना चाहिये। जिस मनुष्य ने अपने माता-पिता की सेवा करने का पाठ याद नहीं किया है, वह कभी भी ईश्वर की सेवा करने योग्य नहीं हो सकता है। विद्यार्थी का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह शब्दों के हिज्जे ध्यानपूर्वक याद करे। यदि ऐसा नहीं करेगा तो वह परीक्षा में पास नहीं हो सकता। इसी प्रकार मनुष्य का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह अपने माता-पिता की सेवा करे, नहीं तो जीवन रूपी परीक्षा में सफल होना उसके लिए असम्भव है।

जिस ओर दृष्टि जाती है उसी ओर माता का प्रेम बच्चों के प्रति प्रकट होता है। यदि ऐसा प्रेम न होता तो संसार भी स्थिर न रहता। जिस प्रकार कोई भी वृक्ष बिना जल के नहीं रह सकता है, उसी प्रकार संसार माता के प्रेम के बिना नहीं रह सकता है। यदि माता अपने पुत्र से प्रसन्न होती है और उसको आशीर्वाद देती है तो उस पुत्र को इस संसार में किसी बात की कमी नहीं रहती है। वह सदैव अपने जीवन को सुख तथा शान्ति से व्यतीत करता है और अन्त में भगवान के चरणों को प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि सुखी-से-सुखी मनुष्य अपनी माता को कष्ट देता है तो उसके गृह से सब सम्पत्ति शीघ्र ही विदा हो जाती है। चाहे कितना भी धार्मिक वह क्यों न हो, अन्त में वह अवश्य नरक का अधिकारी होगा।

देखिये, माता का गौरव स्पष्ट रूप में कहाँ तक है। हम गाय का दूध पीते हैं इसलिए वह हमारी माता है; पृथ्वी पर हम निवास करते हैं इसलिये वह भी हमारी माता है; बहुत-से देव तथा देवियाँ हमारे कल्याण का ध्यान रखती हैं, इसलिये हम उनकी पूजा करते हैं; साधु हमको कुमार्ग से बचाकर सदैव सन्मार्ग पर लाते हैं इसलिये हम उनका भी सम्मान करते हैं; गुरु हमको मोक्ष के लिये शिक्षा देते हैं इसलिये उनको भी हम आदर की दृष्टि से देखते हैं। अब ध्यान देकर विचारिये कि माता हमको दूध पिलाती है, अपनी छाती पर सुलाती है, सदैव हमारी कुशलता का ध्यान रखती है और गृह सम्बन्धी तथा धर्म सम्बन्धी सभी कार्यों में शिक्षा देती है तथा हमको बतलाती है कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिए और इस प्रकार वह हमारे भविष्य का सदैव ध्यान रखती है। इससे सिद्ध होता है कि केवल माता में ही गो, पृथ्वी, देव और देवियाँ, साधु और गुरु के गुण विराजमान हैं। एक माता को प्रसन्न रखा जाय तो इनमें से हरेक को प्रसन्न किया जा सकता है।

माता-पिता के चरणों की सेवा में घर पर रहना सब देव-स्थानों के दर्शन के तुल्य है; क्योंकि माता-पिता की सेवा की जायगी तो सब देवता प्रसन्न होंगे और इस प्रकार घर पर रहते हुए भी मनुष्य का मनोरथ सफल होगा।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008. DECEMBER 1996

प्रेषक कार्यालय :–

सिद्ध योग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....
....
....
....

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा, हिरण्य-वक्षा जगतो निवेशिनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्नि-इन्द्र ऋषभा द्रविणो नो दधातु ॥ –अथर्ववेद १२/१/६

अर्थात्

हे पूजनीय माँ ! तू समग्र भू-मण्डल का भरण-पोषण करने वाली है। सभी प्रकार के खनिज पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करती है। तेरे ही प्रांगण में साम रवि गुञ्जरित हुआ था। तूने अपनी ज्ञान-ज्योति से अज्ञान तिमिर को नष्ट करके विश्व को उद्बोधित किया था। तू हमारे राष्ट्र को भी सभी प्रकार के धन-धान्यों से अलंकृत कर।

प्रकाशक एवं मुद्रक–विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बर्फ़ई कलां, राजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) से प्रकाशित